कमज़ोर और मज़लूम इस्लाम के साए में

मौलाना सैयद जलालुद्दीन उमरी

अनुवाद
मनाज़िर हक़

पुनरीक्षण
नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

विषय-सूची

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम
"अल्लाह कृपाशील दयावान के नाम से।"

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक "कमज़ोर और मज़लूम इस्लाम के साए में" हिन्दी में प्रकाशित करके हमें बेहद ख़ुशी हो रही है। कमज़ोर और र के बारे में इस्लाम क्या सोचता है और इनके सिलसिले में उसकी शिक्षाएँ हैं, इस बात को योग्य लेखक ने कितने सुन्दर ढंग से या है, इसका अन्दाज़ा तो पुस्तक का अध्ययन करने के बाद ही हम यह कह सकते हैं कि इस विषय पर हिन्दी भाषा में यह पहली ; है।

हमारा विश्वास है कि कमज़ोर और मज़लूम के बारे में अगर इस्लाम शिक्षाओं पर अमल किया जाए तो इस धरती पर न कोई कमज़ोर और न मज़लूम। कमज़ोर को सही मानी में सुख और शान्ति ा ही की छत्र-छाया में मिल सकती है। जो लोग सही मानी में ता की सेवा करना चाहते हैं उनके लिए यह पुस्तक मार्गदीप का देगी ऐसी हमें उम्मीद है।

यह पुस्तक सर्वप्रथम उर्दू भाषा में प्रकाशित हुई थी और उसी उर्दू ; का यह हिन्दी अनुवाद है जो आपके हाथों में है। हाँ इस हिन्दी द में कहीं-कहीं जहाँ आवश्यक मालूम हुआ कुछ संक्षिप्तिकरण कर गया है।

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (रजि०) हिन्दी भाषा में इस्लामी शिक्षाओं पर रित पुस्तकें तैयार करने की सेवा में लगा हुआ है। इस पुस्तक को ी सेवा में प्रस्तुत करने का सौभाग्य हमें मिला इसपर हम ख़ुदा का अदा करते हैं।

ख़ुदा से दुआ है कि इस पुस्तक को मानवता के लिए अधिक से ; लाभप्रद बनाए।

—नसीम ग़ाज़ी फ़लाही
अध्यक्ष इस्लामी साहित्य ट्रस्ट
(दिल्ली)

/2009

सांकेतिक शब्दार्थ

संक्षिप्त रूप में इस्तेमाल कुछ ऐसे शब्द इस किताब में अ जिनकी मुकम्मल शक्ल और मतलब को अध्ययन से पहले जान ज़रूरी है, ताकि अध्ययन के दौरान कोई परेशानी न हो। वे निम्नलिखित हैं :

अलैहि॰ : इसकी मुकम्मल शक्ल है, **'अलैहिस्सलाम'** यानी 'उ सलामती हो!' नबियों और फ़रिश्तों के नाम के साथ आदर और सूचक ये शब्द बढ़ा देते हैं।

रज़ि : इसका पूर्ण रूप है, **'रज़ियल्लाहु अन्हु'** इसके मानं 'अल्लाह उनसे राज़ी हो!' **सहाबी** के नाम के साथ यह आदर और सूचक दुआ बढ़ा देते हैं।

'सहाबी' उस ख़ुश क़िस्मत मुसलमान को कहते हैं, जिसे (सल्ल॰) से मुलाक़ात का मौक़ा मिला हो। सहाबी का बहुवचन **सहा** स्त्रीलिंग **सहाबिया** है।

रज़ि॰ अगर किसी **सहाबिया** के नाम के साथ इस्तेमाल हुआ ह **रज़ियल्लाहु अन्हा** पढ़ते हैं और अगर **सहाबा** के लिए आए **रज़ियल्लाहु अन्हुम** कहते हैं।

सल्ल॰ : इसका पूर्ण रूप है, 'सल-लल-लाहु अलैहि वसल जिसका मतलब है, 'अल्लाह उनपर रहमत और सलामती की ब करे!' हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) का नाम लिखते, लेते या सुनते है आदर और प्रेम के लिए दुआ के ये शब्द बढ़ा देते हैं।

इस्लाम और मानवाधिकार

मानवाधिकार की परिकल्पना एवं इतिहास

मानवाधिकार के बारे में कहा जाता है कि इसे लेकर जैसी जागरूकता आज है, पहले नहीं थी। इनसानों की अधिकांश आबादी अपने मौलिक अधिकारों से वंचित थी और ज़ुल्म और अत्याचार की चक्की में पिस रही थी। कभी कहीं से कोई आवाज़ उठती भी तो शक्तिशाली वर्ग के मज़बूत हाथ उसे दबाने में सफल हो जाते। उसकी आज़ादी का सही अर्थों में एहसास पश्चिम को हुआ और उसी ने इसकी स्पष्ट परिकल्पना दुनिया के सामने रखी। कहा जाता है कि फ़्रांस के सम्राट अलफ़ान्सो नवम् ने यह क़ानून मंज़ूर किया या उससे मंज़ूर कराया गया कि किसी को बिना कारण क़ैद नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में अवैध कारावास पर रोक लगा दी गई। इसे मानवाधिकार के इतिहास में बहुत बड़ी पहल समझा जाता है। फिर इसके बाद फ़्रांस में ही रूसो पैदा हुआ। उसकी किताब और उसने इनसानी आज़ादी की जो अवधारणा दी, उसकी बड़ी चर्चा हुई। उसने कहा कि इनसान प्राकृतिक रूप से आज़ाद है और उसे आज़ाद होना चाहिए। उसकी किताब का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हुआ और यह एक बड़ी क्रान्तिकारी किताब समझी गई। उर्दू भाषा में भी उसका अनुवाद 'मुआहिदए-इमरानी' के नाम से मौजूद है। इस किताब ने फ़्रांस में एक प्रकार की हलचल पैदा कर दी और 'मानवाधिकारों का घोषणा-पत्र' (Declaration of Rights of the Man) के शीर्षक से एक घोषणा-पत्र जारी हुआ जिसमें मानवाधिकारों का उल्लेख था।

मानवाधिकार का अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा-पत्र

इसी प्रकार की और भी कोशिशें जारी रहीं। इन कोशिशों का ही एक प्रकार से चरम बिन्दु वह था जब संयुक्त राष्ट्रसंघ (UNO) ने 10 दिसम्बर 1948 ई॰ को मानवाधिकार का अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा-पत्र (The

Universal Declaration of Human Rights) मंज़ूर किया और इसे दुनिया के सामने पेश किया। मानवाधिकार के मामले में इसे अत्यन्त क्रान्तिकारी क़दम समझा जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस घोषणा-पत्र में मानवाधिकार की स्पष्ट अवधारणा मौजूद है और इनसान को ज़ुल्म और अत्याचार से बचाने की यह एक सफ़ल कोशिश है।

इस घोषणा-पत्र में तीन बातों पर बल दिया गया है :

1. व्यक्ति की आज़ादी,

2. न्याय और इनसाफ़ और

3. समानता।

क़ानून के विशेषज्ञों के अनुसार ये तीन बिन्दु इस घोषणा-पत्र की मौलिक विशेषताएँ हैं। यदि ये तीनों चीज़ें इनसान को मिल जाएँ तो उसके अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं।

इस घोषणा-पत्र की त्रुटियाँ

इस घोषणा-पत्र में कुछ त्रुटियाँ भी हैं और व्यावहारिक रुकावटें भी। एक यह कि यह घोषणा-पत्र मंज़ूर तो हो गया परन्तु इसके पीछे इसे लागू करवानेवाली कोई शक्ति नहीं है। यदि कोई देश, विशेषकर कोई शक्तिशाली देश, इसका उल्लंघन करे तो उसे इस घोषण-पत्र का पाबन्द बनाने का कोई ठोस एवं प्रभावकारी उपाय इसमें नहीं बताया गया है। इसका सुबूत आप आज की दुनिया में देख सकते हैं कि एक बड़ा देश अपनी ताक़त के नशे में चूर होकर खुल्लम-खुल्ला मानवाधिकार का उल्लंघन कर रहा है और कोई उसे रोकनेवाला नहीं है।

दूसरी बात यह कि इस घोषणा-पत्र में मज़हबी आज़ादी (धार्मिक स्वतन्त्रता) को स्वीकार किया गया है, परन्तु इस आज़ादी की सही अर्थों में सीमा निर्धारित नहीं की गई है। मान लीजिए कि मज़हबी आज़ादी से यदि तात्पर्य केवल यह है कि आदमी पूजापाठ करे, इबादतघरों में जाकर ईश्वर की इबादत करे, मुसलमान मस्जिदों में, ईसाई गिरिजाघरों में और सिख गुरुद्वारों में या जिसकी जो इबादतगाह हो उसमें पहुँचकर इबादत की रस्में (कर्मकांड) पूरी कर ले तो यह भी एक आज़ादी है। इससे आगे

कुछ ख़ास, निजी और पारिवारिक मामलों में आज़ादी देकर कहा जा सकता है कि यह मज़हबी आज़ादी है। आज धार्मिक स्वतन्त्रता का इससे अधिक कोई अर्थ वास्तव में है भी नहीं, परन्तु इस्लाम के मामले में मुश्किल यह है कि वह पूरी ज़िन्दगी के बारे में हमें हिदायतें देता है और उन हिदायतों की पाबन्दी का आदेश देता है। ऐसा कोई संविधान नहीं है जो कहे कि मुसलमानों को अपने मज़हब के सभी आदेशों पर चलने की आज़ादी है और वे अपने दायरे में अपना क़ानून लागू कर सकते हैं।

तीसरी बात यह कि पश्चिम में चर्च और उससे प्रभावित शासक वर्ग ने इनसान के विचार एवं व्यवहार की आज़ादी तथा उसके मौलिक अधिकारों के मामलों में अत्यन्त ग़लत दृष्टिकोण अपना रखा था, जिसका मूल धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसी की प्रतिक्रिया में मानवाधिकार की वर्तमान अवधारणा अस्तित्व में आई। इसमें मज़हब की वास्तविक भूमिका को पूर्णतः नज़रअन्दाज़ कर दिया गया है। अल्लाह के जो पैग़म्बर दुनिया के विभिन्न इलाक़ों में और अलग-अलग कालखण्ड में आए उनकी शिक्षाएँ क्या थीं, उन्हें जब सत्ता मिली तो उनका क्या रवैया रहा और मानवता किस प्रकार कल्याण एवं सफलता की ओर अग्रसर हुई? ये चीज़ें कहीं भी बहस का विषय नहीं बनतीं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह तय कर लिया गया है कि मज़हब को गौण रखकर या उसे नज़रअन्दाज़ करके ही बात की जाएगी। अतः कोई यह नहीं कह सकता कि यह घोषणा-पत्र किसी वस्तुनिष्ठ अथवा निरपेक्ष अध्ययन का नतीजा है। स्पष्ट है कि यह भेदभावपूर्ण अध्ययन पर आधारित है जिसमें पहले से तय कर लिया गया है कि मज़हब की वास्तविक भूमिका बहस का विषय नहीं बनेगी बल्कि इसे नज़रअन्दाज़ किया जाएगा।

इस्लाम का दृष्टिकोण

यह एक सच्चाई है और इस्लाम इसे स्वीकार करता है कि इनसान पर ज़ुल्म और अत्याचार होते रहे हैं। पहले इनसान हज़रत आदम (अलै॰) की औलाद ही में से एक बेटे ने दूसरे बेटे का केवल इस वजह से क़त्ल कर दिया था कि उसकी क़ुरबानी अल्लाह के दरबार में रद्द हो गई थी

और उसके भाई की कुरबानी अल्लाह के दरबार में क़बूल हो गई थी। परन्तु पहले भाई की अन्तरात्मा ज़िन्दा थी, उसे बाद में इसपर पश्चात्ताप भी हुआ। (इस प्रकरण को विस्तार से जानने के लिए देखें कुरआन, 5:27 से 31)

इसका मतलब यह है कि यदि ज़ुल्म और अत्याचार को न रोका जाए तो एक भाई के हाथ दूसरे भाई के ख़ून से रंगीन हो सकते हैं। इसलिए इस्लाम चाहता है कि ज़ुल्म और अत्याचार का हर हाल में अन्त हो और किसी को इसकी इजाज़त न हो कि वह दूसरे को ज़ुल्म और अत्याचार का निशाना बनाए। इसके लिए उसने एक परिपूर्ण एवं सारगर्भित क़ानून बनाया है। इससे न्याय और इनसाफ़ के तक़ाज़े हर पहलू से पूरे होते हैं और इनसान को वे सभी अधिकार प्राप्त होते हैं जो उसे वास्तव में मिलने चाहिएँ और जिनकी आवश्यकता कल की तरह आज भी है। यह क़ानून सभ्य दुनिया के एक बड़े हिस्से पर सदियों तक लागू रहा है और दुनिया इसका सुखद अवलोकन कर चुकी है।

कुरआन और हदीस में मानवाधिकार का बयान

कुरआन में आदेशों और क़ानूनों का उल्लेख प्रचलित क़ानून की शैली में नहीं है। क़ानून की किताबों की तरह इसमें अध्यायों एवं धाराओं के रूप में क़ानून नहीं बयान हुए हैं, बल्कि हालात और परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर इन क़ानूनों का अवतरण होता रहा है। इस तरह ये क़ानून इस्लाम की मौलिक शिक्षाओं के मध्य फैले हुए हैं। इसी प्रकार इनमें से किसी क़ानून का बयान प्रायः एक जगह नहीं है, बल्कि इसके एक पहलू का एक जगह और दूसरे पहलू का दूसरी जगह उल्लेख है। इन सबको सामने रखने से क़ानून की सही तस्वीर सामने आती है। यही शैली उसने मानवाधिकार के बयान में अपनाई है। फिर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की हदीसों में इनका विस्तृत विवरण मिलता है जिनसे यह पता चलता है कि किस क़ानून पर किस प्रकार अमल हुआ। हदीसें कुरआन की सबसे प्रामाणिक व्याख्या हैं। हदीसों से हमें कई नए क़ानूनों का भी ज्ञान होता है।

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

"अल्लाह दयावान, कृपाशील के नाम से"।

प्राक्कथन

इनसान ईश्वर की श्रेष्ठतम रचना है, परन्तु यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि वह खुद अपने हाथों अपनी श्रेष्ठता एवं महानता को धूमिल कर रहा है। वह खुदा का बन्दा (गुलाम) है परन्तु उसने सरकशी एवं आज़ादी का रवैया अपना रखा है। उसकी अस्ल एक है क्योंकि वह एक माँ-बाप से पैदा हुआ है। अतः स्वाभाविक रूप से अपेक्षा की जाती है कि सम्पूर्ण मानवजाति को एक ख़ानदान के सदस्यों की तरह मिल-जुलकर प्यार-मुहब्बत की छत्रछाया में ज़िन्दगी गुज़ारनी चाहिए, परन्तु समय की रफ़्तार के साथ वह अनगिनत समूहों एवं वर्गों में बँट गई है। उच्च एवं निम्न वर्ग के झूठे पैमाने बना लिए और एक-दूसरे पर हाथ डालने के बहाने तलाश कर लिए हैं। इस्लाम के इस एहसान को दुनिया नज़र-अन्दाज़ नहीं कर सकती कि उसने इस सृष्टि में इनसान की महानता एवं श्रेष्ठता स्थापित की, इनसानों के बीच पाए जानेवाले झूठे भेदभाव को ख़त्म किया, इनसान पर इनसान की श्रेष्ठता का पैमाना ईशपरायणता एवं ईश-भय (क़ुरआन के शब्दों में 'तक़्वा') को बनाया, समानता एवं बराबरी का सबक़ सिखाया, समाज के प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार सुनिश्चित किए और एक ऐसी व्यवस्था स्थापित की जिसमें इन अधिकारों की सुरक्षा हो सके और किसी को किसी के ज़ुल्म का शिकार न होना पड़े।

मुझे जिन विषयों से दिलचस्पी रही है, उनमें मानवाधिकार का विषय भी है। मैंने इस सिलसिले के लेखों में कमज़ोर व्यक्ति एवं वर्ग के अधिकारों पर थोड़ा संक्षेप में और महिलाओं के अधिकार पर अपेक्षाकृत विस्तार से चर्चा की है, परन्तु विषय के कुछ अहम पहलू उनमें नहीं आ सके हैं। कुछ पहलुओं पर चर्चा हुई है, परन्तु और अधिक व्याख्या एवं विस्तार की ज़रूरत महसूस होती है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी को पूरा करने की कोशिश की गई है।

इस किताब में इस हक़ीक़त का बयान है कि इस्लाम कमज़ोरों की समस्याओं को व्यापक नज़र से देखता है और उनके समाधान के लिए भी व्यापक प्रयास का दिशा-निर्देश देता है। कमज़ोर वर्ग सत्यमार्ग के अव्वलीन (प्रथम) मुसाफ़िर रहे हैं। इस्लाम ने समाज के बिगड़े हुए वर्गों की अपेक्षा कमज़ोर वर्ग के लोगों की— दीन और अख़लाक़ (धर्म एवं नैतिकता) की बुनियाद पर— ज़्यादा इज़्ज़त की और उन्हें सम्मानजनक स्थान दिया। उनकी वास्तविक कमज़ोरियों की रिआयत शरीअत में रखी। उनके अन्दर हालात से निपटने का इरादा और हौसला पैदा किया। समाज के अन्दर ज़ुल्म और अत्याचार से नफ़रत और घृणा के जज़बात पैदा किए और उसे ख़त्म करने के तरीक़े बताए। हक़दार को हक़ दिया और इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि सिर्फ़ कमज़ोरी के कारण कोई व्यक्ति अपने हक़ (अधिकार) से वंचित न रह जाए। कमज़ोर में ज़ुल्म का जवाब देने और बदला लेने की हिम्मत पैदा की। अलबत्ता यह हक़ीक़त भी स्पष्ट कर दी कि क्षमा और दरगुज़र से काम लेने से इनसान उच्च नैतिकता का सुबूत देता और आख़िरत के अज्र (अच्छे बदले) का हक़दार होता है।

किताब के शुरू में मानवाधिकार पर संक्षेप में चर्चा है। इसमें पश्चिम के दृष्टिकोण की कमियों और इस सम्बन्ध में इस्लाम की विशेषताओं को स्पष्ट किया गया है। इसकी रौशनी में इस पुस्तक की बहसों को बेहतर तरीक़े से समझा जा सकता है।

किताब में विषय का अध्ययन क़ुरआन और हदीस की रौशनी में किया गया है। भावार्थ व्यक्त करने एवं व्याख्या करने में आवश्यकतानुसार तफ़्सीर, शरह-हदीस, सीरत (जीवनी) और फ़िक़्ह की किताबों से फ़ायदा उठाया गया है। इससे अन्दाज़ा किया जा सकता है कि हमारे असलाफ़ (पूर्वजों) ने क़ुरआन और हदीस की रौशनी में मसाइल का कितनी बारीकी और सूक्ष्मता से जाइज़ा लिया है। आज भी इससे फ़ायदा उठाया जा सकता है।

दुआ है कि यह संक्षिप्त किताब कमज़ोरों और मज़लूमों (पीड़ितों) के बारे में इस्लाम का दृष्टिकोण समझने में मददगार साबित हो और इस प्रयास को अल्लाह क़बूल फ़रमाए।

— जलालुद्दीन उमरी

15 मार्च, 2007 ई॰

फ़ुक़हा (इस्लामी-विधान के विद्वानों) की व्याख्याएँ

इसके अतिरिक्त इस्लामी क़ानून की सही व्याख्या के लिए मुस्लिम उम्मत के विद्वानों ने असाधारण सेवाएँ की हैं। उन्होंने जिस बारीकी के साथ इस्लामी क़ानून का अध्ययन एवं शोध किया है और क़ानून के मूलपाठ के एक-एक पहलू और उसके एक-एक शब्द पर जो बहसें की हैं उनसे क़ानून के विभिन्न नए दृष्टिकोण सामने आते हैं और क़ानूनी अड़चनों को दूर करने में मदद मिलती है।

इस्लामी क़ानून पर आपत्तियाँ

आज निष्पक्षता, उदारता एवं सहिष्णुता की चर्चा तो बहुत है, परन्तु इस्लाम ने इनसान को जो अधिकार दिए हैं उनका सही अर्थों में सम्मान नहीं होता। एक बात यह कही जाती है कि आज इनसान विचारधारा, सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से जिस स्थान पर पहुँच चुका है, सदियों पुराना क़ानून उसके तक़ाज़े (अपेक्षाएँ) पूरे नहीं कर सकता। यह भी कहा जाता है कि इस्लामी क़ानून के द्वारा बहुत-से मामलों में न्याय और इनसाफ़ के तक़ाज़े पूरे नहीं होते, परन्तु ये बातें किसी वस्तुपरक शोध और गहराई से किए गए सोच-विचार का नतीजा नहीं हैं। इस्लाम की मौलिक शिक्षाएँ और उसके विचार एवं व्यवहार का पूरा तन्त्र उनका खण्डन करता है। इस्लामी क़ानून का अध्ययन बताता है कि आज जिन अधिकारों की चर्चा है और जिनकी प्राप्ति के लिए जिद्दोजुहद और संघर्ष जारी है, इस्लाम ने बहुत पहले उन अधिकारों की सुस्पष्ट अवधारणा ही नहीं दी बल्कि उन्हें लागू करवाने के लिए क़ानूनी ज़मानत भी उपलब्ध कराई। इनसान के किसी ऐसे मौलिक अधिकार की निशानदेही नहीं की जा सकती जो इस्लामी क़ानून ने उसे न दी हो। ये सब कुछ उन हालात में हुआ कि समाज के शक्तिशाली वर्ग को हर प्रकार के अधिकार प्राप्त थे और कमज़ोर लोगों को कोई अधिकार न था। इसके लिए कमज़ोर को कोई जंग या आन्दोलन नहीं करना पड़ा, बल्कि इस्लाम ने ख़ुद ये अधिकार उसे प्रदान किए।

कुछ मार्गदर्शक सिद्धान्त

इस्लाम ने इनसान को जो अधिकार दिए हैं उनकी चर्चा करने से पहले यह बात सामने रहनी चाहिए कि इस जगत् (ब्रह्माण्ड) और इनसान के बारे में उसका एक ख़ास दृष्टिकोण है जिसकी बुनियादी अहमियत है। इस्लाम की कुछ उसूली (सैद्धान्तिक) शिक्षाएँ हैं जिनसे वह किसी क़ीमत पर हटता नहीं और उसका कोई क़ानून इन शिक्षाओं से टकराता भी नहीं, अर्थात किसी प्रकार के विरोधाभास की कोई सम्भावना नहीं रहती। यदि आप कोई क़ानून बनाएँ या उसे लागू करें तो आपको ध्यान रखना होगा कि वह उन मूल शिक्षाओं से न टकराए। यदि वह क़ानून उन मूल शिक्षाओं के विपरीत भाव व्यक्त करे तो वह निश्चित रूप से इस्लामी क़ानून नहीं है। उदाहरण के लिए, क़ुरआन कहता है कि इस दुनिया का स्रष्टा और मालिक (प्रभु) अल्लाह है, हर वस्तु उसकी मिल्कियत है। यह इस्लाम की एक मौलिक अवधारणा है। इस अवधारणा ने हर ज़ालिम-अत्याचारी की सत्ता ख़त्म कर दी है और उसे बता दिया है कि तुम मालिक नहीं हो, मालिक तो अल्लाह है। यदि कोई व्यक्ति अल्लाह को इस रूप में स्वीकार करता है तो वह यह नहीं कह सकता कि मेरे पास सत्ता है, मैं समय का बादशाह हूँ, किसी बड़ी जायदाद और प्रॉपर्टी का मालिक हूँ, भूस्वामी या उद्योगपति हूँ, या मेरी कोई और हैसियत है इसलिए जो चाहे कर सकता हूँ। जब अस्ल मालिक अल्लाह है तो इनसान उसकी मिल्कियत में उसकी इच्छानुसार ही संसाधनों का उपयोग कर सकता है। अल्लाह की प्रदान की हुई ताक़त, शक्ति अथवा संसाधनों को उसकी इच्छा के विपरीत उसके बन्दों पर ज़ुल्म और अत्याचार के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता। एक और उदाहरण लीजिए, ईश्वर के बारे में इस्लामी आस्था का एक प्रमुख बिन्दु यह है कि जीवन और मृत्यु अल्लाह के हाथ में है। वह जब तक चाहता है इनसान दुनिया में रहता है और जब उसकी इच्छा होती है वह चला जाता है। कुछ बच्चे माँ के पेट ही में मर जाते हैं, कोई पैदा होते ही मर जाता है, कोई जवान होकर मरता है और कोई बूढ़ा होकर। यह फ़ैसला करना कि कोई आदमी इस दुनिया में कब तक ज़िन्दा रहेगा,

ह का काम है। उससे ज़िन्दगी छीनने का किसी को अधिकार नहीं दि वह ऐसा करता है तो अल्लाह (ईश्वर) की सत्ता में दख़ल देता से इसकी सज़ा भुगतनी होगी। इसी प्रकार इस्लाम कहता है कि न केवल एक ख़ुदा का बन्दा (दास) है और उसे बन्दा ही बनकर होगा। यह कोई मामूली बात नहीं है। इसमें इस बात का एलान है नसान पर हुकूमत सिर्फ़ अल्लाह की होनी चाहिए, किसी दूसरे को ग़ुलाम (दास) बनाने का अधिकार नहीं है। हर प्रकार की सत्ता को ाह की सत्ता के अधीन होना चाहिए। इससे आज़ाद होकर किसी ान पर दूसरे इनसान की न धार्मिक सत्ता जाइज़ (वैध) है और न ौतिक सत्ता। इसी प्रकार क़ुरआन कहता है कि इनसान श्रेष्ठ है। इस ता के बहुत से पहलू हैं। उसे उसके प्राकृतिक और नैसर्गिक कारों से वंचित करना इस श्रेष्ठता के विपरीत है। यदि इनसान को ज़त या अपमानित किया गया तो वह श्रेष्ठ नहीं रहा। इसी प्रकार ाम के निकट क़ानून बनाने का अधिकार सिर्फ़ अल्लाह को है और ान उस क़ानून का पाबन्द है। हाँ, अल्लाह के प्रदान किए गए क़ानून रौशनी में हालात और परिस्थिति के अनुसार इनसान इजतिहाद कर ता है। यानी ऐसे मामलों में जिनके बारे में स्पष्ट नियम मौजूद नहीं स्लामी विद्वान इस्लाम की मूल शिक्षाओं की रौशनी में शोध कर नए ून बना सकते हैं। इसका मतलब यह है कि यहाँ किसी व्यक्ति वा समूह को स्वतन्त्र रूप से अपना हुक्म चलाने का बिल्कुल कार नहीं है। अल्लाह के क़ानून के शासक और जनता दोनों ही न्द रहेंगे।

ये इस्लाम की कुछ बुनियादी अवधारणाएँ अथवा आस्थाएँ हैं। या के हर संविधान में कुछ प्रस्तावनाएँ अथवा मूल सिद्धान्त होते हैं। ाम की बुनियादी अवधारणाओं को मार्गदर्शक सिद्धान्त कहा जा ता है। इससे मानवाधिकार की एक निर्धारित अवधारणा उभरती है र उसे एक ख़ास दिशा मिलती है।

इस्लाम ने केवल क़ानून ही नहीं दिया है बल्कि वह आगाह (सचेत) ता है कि यदि इस क़ानून पर अमल न हो तो अल्लाह के यहाँ उसकी

पकड़ होगी। वह आख़िरत (परलोक) का डर पैदा करता है जिसके क क़ानून का सम्मान और उसकी पाबन्दी की भावना आदमी के अन्दर उभरती है। आख़िरत पर यक़ीन हो तो इनसान अल्लाह के क़ानून उल्लंघन आसानी से नहीं कर सकता।

जीने का अधिकार

इनसान के अधिकार व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रकार के हैं जो उसे अनिवार्यतः मिलने चाहिएँ। उनमें उसका स पहला और मौलिक अधिकार यह है कि उसे जीने दिया जाए। कुर के सरसरी अध्ययन से भी यह मालूम करना मुश्किल नहीं है कि उ इस अधिकार को कितनी अहमियत दी है। वह कहता है कि हर इन जो खुदा की ज़मीन पर पैदा होता है उसे ज़िन्दा रहने का हक़ है। लोग इस हक़ को छीन रहे थे, उसने उनके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई। लोग आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक या किसी भी कारण से इनसान जान का सम्मान नहीं कर रहे थे, क़ुरआन ने उन्हें चुनौती दी। उसने व कि किसी को किसी की ज़िन्दगी छीनने का कोई अधिकार नहीं क़ानून के विशेषज्ञ कहते हैं कि कोई अधिकार सम्पूर्ण (Absolute) न होता। उसके साथ शर्तें होती हैं और उसमें अपवाद भी होता है। क़ुर ने स्पष्ट शब्दों में इसकी व्याख्या की है। वह कहता है कि निस्सं इनसान की जान का आदर किया जाना चाहिए, परन्तु अधिकार न्याय का आदर उससे ज़्यादा ज़रूरी है। अतः अधिकार और न्याय माँग हो तो इनसान की जान ली भी जा सकती है। कुछ अपराध ऐसे कि जिन्हें करने के बाद इनसान अपना 'जीने का अधिकार' खो देता क़ुरआन, ईश्वर के नेक बन्दों की ख़ूबी यह बयान करता है—

> "वे इनसानी जान को, जिसे उसने (अल्लाह ने) हराम ठहराया है, क़त्ल नहीं करते परन्तु न्याय के साथ।"
>
> (क़ुरआन, 25:68)

स्पष्ट है कि न्याय की माँग हो तो अल्लाह के नेक बन्दे (न्य प्रक्रिया के तहत) इनसान से उसके जीने का अधिकार छीन लेते हैं, प

और इनसाफ़ इजाज़त न दे तो किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह का बादशाह अथवा कोई राष्ट्राध्यक्ष ही क्यों न हो, यह अधिकार दिया जा सकता कि वह किसी को ज़िन्दा रहने के अधिकार से कर दे।

नता का अधिकार

मानवाधिकार पर जो किताबें लिखी गई हैं उनमें समानता को सभी कारों की बुनियाद बताया गया है। कहा जाता है कि इसी अवधारणा ी अधिकार निकलते हैं कि सारे इनसान समान हैसियत के मालिक इनमें औरत, मर्द, बड़े, छोटे, अमीर, ग़रीब, मालिक और मज़दूर ा दर्जा एक समान है। उनमें रंग, नस्ल, लिंग, जाति, इलाक़ा अथवा यता के आधार पर कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। इस्लाम ने ता की यह आवाज़ जितने ज़ोरदार तरीक़े से उठाई है, इससे ज़्यादा र तरीक़े से आवाज़ नहीं उठाई जा सकती। क़ुरआन की आयतें इस ले में सार्वभौम सत्य का दर्जा रखती हैं। हिज्जतुलविदाअ (अर्थात द *(सल्ल.)* के अन्तिम हज) के मौक़े पर अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने मिसाल ख़ुतबा दिया, जिसे मानवाधिकार का प्रथम घोषणा-पत्र कहें नुचित न होगा, उसमें आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "न तो अरबी (अरबवासी) को अजमी (ग़ैर-अरबवासी) पर और न अजमी को अरबी पर कोई श्रेष्ठता है और न गोरे को काले पर और न काले को गोरे पर कोई श्रेष्ठता है, सिवाय इसके कि कोई तक़्वावाला (ईशपरायण, अल्लाह से डरनेवाला) हो।"

ाबी *(सल्ल.)* ने अपने ख़ुतबे में सबसे पहले अरबवासी का नाम । इसकी वजह यह है कि अरबों के ज़रिए इस्लामी इनक़िलाब आया उस समय अरबों के हाथ में सत्ता थी, अतः सबसे पहले उनका नाम कहा गया कि याद रखो कि किसी अरबी को किसी अजमी पर ा नहीं है और न ही किसी गोरे को किसी काले पर कोई श्रेष्ठता है। और अन्त में यह भी फ़रमा दिया कि यदि किसी को किसी पर ा प्राप्त है तो वह 'तक़्वा' (ईशपरायणता और ईशभय) के कारण

है। यदि किसी के अन्दर तक़्वा के गुण हैं तो वह सबसे बढ़कर उसका सम्मान किया जाना चाहिए और समाज में वही माननीय स जाना चाहिए। इसके स्थान पर यह देखना कि कौन गोरा है, कौन क कौन अरबी है और कौन अजमी; किसका किस देश से सम्बन्ध है कौन मर्द है और कौन औरत है, नाजाइज़ और ग़ैर-इस्लामी नीति है। एलान उस वक़्त हुआ जब दुनिया में 'समानता' नाम की कोई अवध नहीं पाई जाती थी।

न्याय का अधिकार

इनसान का एक बुनियादी हक़ यह माना जाता है कि उसे न और इनसाफ़ मिले। इस मामले में इस्लाम का दृष्टिकोण बिल्कुल न है। वह सारे मुसलमानों को न्याय और इनसाफ़ के ध्वजावाहक के रू पेश करता है। उन्हें हुक्म दिया गया है कि वे हर व्यक्ति के साथ नि न्याय करें दुश्मनों के साथ भी न्याय और इनसाफ़ का मामला करते किसी भी स्थिति में नाइनसाफ़ी का रवैया न अपनाएँ, क्योंकि ऐसा व तक़्वा (ईशभय) और ख़ुदातरसी (ईशभक्ति) के विपरीत है। न्याय इनसाफ़ के ख़िलाफ़ क़दम उठाते समय इनसान को अल्लाह की प (दण्ड) से बचना चाहिए और उसे यह बात याद रखनी चाहिए कि अ के इल्म से कोई चीज़ छिपी नहीं रह सकती। (देखें- क़ुरआन, 5:8)

क़ानून की बरतरी

समानता, न्याय और इनसाफ़ की एक अनिवार्य माँग यह है समाज में क़ानून को बरतरी हासिल हो ताकि हर व्यक्ति पूरे इत्मीना साथ अपनी ज़िम्मेदारियों को पूरा करता रहे, इस भरोसे के साथ क़ानून उसके पीछे है। उसके साथ कोई नाइनसाफ़ी नहीं होगी, उ कोई अधिकार छीना नहीं जाएगा। यह बात इस तरह कही जाती है, इससे पहले दुनिया में इसका तसव्वुर (कल्पना) ही नहीं था। इस्ला स्पष्ट रूप से कहा है कि क़ानून के सामने सब बराबर हैं। इसके किसी को दम मारने की इजाज़त न होगी। इस्लाम के अन्तिम पै

त मुहम्मद *(सल्ल.)* के ज़माने की एक मशहूर घटना है जो बुख़ारी और ा की अन्य किताबों में मौजूद है कि बनू-मख़ज़ूम क़बीले की एक ा ने चोरी की तो नबी *(सल्ल.)* से दरख़ास्त की गई कि इस औरत ने तो की है परन्तु शरीफ़ घराने की है, इसका हाथ न काटा जाए, और सज़ा दे दी जाए। नबी *(सल्ल.)* को यह बात बहुत बुरी लगी। *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि क़ौमें इसी तरह तबाह हुई हैं कि उनमें जो फ़ और इज़्ज़तदार समझे जाते थे, उन्होंने यदि कोई ग़लत काम किया उन्हें सज़ा नहीं दी गई और जो कमज़ोर थे उन्हें सज़ा दी गई। फिर ; बाद वह ऐतिहासिक वाक्य इर्शाद फ़रमाया जो शायद पैग़म्बर ही ज़बान से निकल सकता है। आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि मुहम्मद की फ़ातिमा भी चोरी करती तो आज मैं उसका भी हाथ काट देता। ाब यह है कि क़ानून की नज़र में सब बराबर हैं। यह बड़े के लिए है और छोटे के लिए भी, मर्द के लिए भी है और औरत के लिए भी, ा कोई परे नहीं रह सकता। यह इतना साफ़ और स्पष्ट तसव्वुर (कल्पना) है कि क़ानून की बरतरी का इससे अच्छा और स्पष्ट वुर पेश नहीं किया जा सकता।

राध अदालत से साबित होगा

कहा जाता है कि इनसाफ़ के लिए ज़रूरी है कि अपराध अदालत से ात हो। इसके बग़ैर सज़ा न दी जाए। यह अवधारणा भी शायद ाम ही से ली गई है। हज़रत उमर (रज़ि.) फ़रमाते हैं—

> "क़सम ख़ुदा की, किसी व्यक्ति को क़ैद नहीं किया जाएगा जब तक कि न्यायप्रिय लोग उसके अपराधी होने की गवाही न दें।" (हदीस : मुवत्ता इमाम मालिक)

इस्लाम के निकट हुकूमत की ज़िम्मेदारी है कि वह देखे कि क़ानून तोड़ा तो नहीं जा रहा है। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का कथन है—

> "लोगों पर जो अमीर (हाकिम/शासक) है वह उनका निगराँ है और उससे उसकी रैयत (प्रजा) के बारे में पूछा जाएगा।"
> (हदीस : बुख़ारी)

रैयत शब्द राई से बना है, राई चरवाहे और निगरानी करनेवाले कहा जाता है। मतलब यह कि जिस प्रकार एक चरवाहा बकरियं रेवड़ का ज़िम्मेदार होता है, उसी प्रकार इमाम (अमीर/शासक/हाकिम अपनी रैयत का ज़िम्मेदार है। उसकी हैसियत किसी तानाशाह निरंकुश-अत्याचारी हाकिम की नहीं है बल्कि चरवाहे की है जो यह दे रहता है कि कहीं किसी पर ज़ुल्म तो नहीं हो रहा और उसके साथ नाइनसाफ़ी तो नहीं हो रही है। हुकूमत की ज़िम्मेदारी है कि इस बात निगरानी करती रहे कि किसी का हक़ मारा न जाए और उसे किसी में क्षति न पहुँचे।

आर्थिक जिद्दोजुहद (धनोपार्जन) का अधिकार

एक बात यह कही जाती है कि इनसान को अपनी बुनियादी ज़ पूरी करने का हक़ मिलना चाहिए। इस्लाम का दृष्टिकोण इस माम बिल्कुल स्पष्ट ही नहीं, बहुत व्यापक भी है। वह कहता है कि पूरी ध में इनसानों के लिए संसाधन फैले हुए हैं, उनसे सभी लाभ उठा सकते क़ुरआन में ख़ुदा फ़रमाता है—

> "हमने तुम्हें ज़मीन में सत्ता दी और उसमें तुम्हारे लिए आर्थिक ज़रूरतें पूरी करने के लिए सामान रख दिए।" (क़ुरआन, 7:10)

इसका मतलब यह है कि ख़ुदा की इस ज़मीन में जो आ संसाधन हैं उनसे फ़ायदा उठाने का हक़ हर एक को है। क़ुरआन दूसरी जगह कहा गया है—

> "ज़मीन के किनारों पर चलो और अल्लाह ने उसमें जो रोज़ी रखी है, उसे खाओ।" (क़ुरआन, 67:15)

इसका अर्थ यह है कि ज़मीन के हर गोशे (इलाक़े) पर तुम्हें प और अल्लाह ने जो रोज़ी रखी है उससे लाभ उठाने का हक़ है। इस के निकट आजीविका प्राप्ति के मार्ग में कोई अनुचित रुकावट पैदा क क़ानूनन जुर्म है। इनसान को आर्थिक जिद्दोजुहद की आज़ादी देने साथ वह इस बात को भी यक़ीनी बनाता है कि उसे अच्छी ख़ुराक मि वह गन्दा भोजन इस्तेमाल करने और गली-सड़ी चीज़ें खाने पर मजबू

जाए। क़ुरआन कहता है कि अल्लाह का इनसान पर यह एहसान है उसे पाक (पवित्र) चीज़ें दी गई हैं। इससे यह बात भी निकलती है उसे पाक-साफ़ भोजन मिलना चाहिए। यह उसका एक बुनियादी हक़ इस्लाम लिबास को भी इनसान की एक फ़ितरी ज़रूरत स्वीकार करता ौर उसके अनुसार इनसान की यह ज़रूरत अनिवार्य रूप से पूरी होनी ए। इसी प्रकार उसे रहने के लिए मकान भी मिलना चाहिए।

अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि जिस व्यक्ति को हम ारी सेवा में लेंगे, यदि उसकी शादी नहीं हुई है तो उसे यह हक़ है वह बैतुलमाल' (इस्लामी रियासत के राजकोष) से शादी का ख़र्च ले अपने लिए कपड़े की व्यवस्था करे। वह अपने लिए मकान भी बना ता है और सवारी भी रख सकता है। इससे ज़्यादा का हक़ उसे नहीं ा। इस्लामी विद्वानों ने लिखा है कि यहाँ यह देखना ज़रूरी है कि सत की आर्थिक स्थिति कैसी है? बहरहाल इस्लामी रियासत यह मेदारी लेती है कि कोई व्यक्ति भूखा-प्यासा न रहे और यह सोचने पर ूर न हो जाए कि अब मेरा कोई पूछनेवाला नहीं रहा। हदीस की ाबों में आता है कि आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि कोई व्यक्ति इस में दुनिया से जा रहा हो कि उसने माल छोड़ा है तो यह उसके सों (उत्तराधिकारियों) का हक़ है, परन्तु यदि कोई बाल-बच्चे छोड़कर ा है और माल छोड़कर नहीं जाता तो उसका वली (उत्तराधिकारी) मैं ौर उसकी देखभाल मेरे ज़िम्मे है। इस सम्बन्ध में इस्लामी विद्वानों ने ा है कि यह रियासत की ज़िम्मेदारी है कि किसी भी बच्चे और किसी व्यक्ति की ज़रूरतें पूरी होने से न रह जाएँ। परिवार में उसका कोई भाल करनेवाला नहीं है तो रियासत उसकी ज़रूरतें पूरी करने की मेदार होगी। इसके साथ ही यह भी याद दिलाया गया है कि इनसान या को मक़सद न बनाए।

ाजिक अधिकार

सभी अधिकारों में सामाजिक अधिकार की बड़ी अहमियत है। यह अवश्य ही मिलना चाहिए। सामाजिक अधिकार की अवधारणा यह है आदमी समाज और सोसाइटी में सक्रिय भूमिका (Active Part)

निभा सके। यह उसका हक़ है कि उसे बेकार या निष्क्रिय बनाक रखा जाए। उसपर ऐसी पाबन्दी न हो कि वह कुछ कर न सके। इर में इस अधिकार की अवधारणा बिल्कुल स्पष्ट है। इस्लाम विचार व्यवहार की आज़ादी को स्वीकार करता है। जो लोग ग़ौर व ि (चिन्तन-मनन) नहीं करते उनके बारे में वह कहता है कि उन्हें क्य गया है कि पशुओं की तरह बे सोचे-समझे ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं दुनिया के आरम्भ और अन्त पर ग़ौर करें और समझें। वह अ (व्यवहार) की भी पूरी आज़ादी देता है। हाँ, हर व्यक्ति को इस बात ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि वह कोई ऐसा क़दम न उठाए जि समाज में बिगाड़ पैदा हो और जो समाज के हित में न हो। पैग़म्बरों दावत (आह्वान) की नींव तौहीद होती थी, अर्थात यह कि एक ई (अल्लाह) की इबादत की जाए। फिर वे कहते थे, "ज़मीन में इर (सुधार) के बाद बिगाड़ न पैदा करो।" (क़ुरआन, 7:85)

मतलब यह कि अल्लाह ने अपने क़ानून को इस्लाह का ज़रि बनाया है। उसकी मौजूदगी में बिगाड़ न फैलाओ।

अभिव्यक्ति की आज़ादी

अभिव्यक्ति की आज़ादी इनसान का एक बुनियादी हक़ है। इस ने उसे यह हक़ प्रदान किया है। उसके अनुसार इनसान के इस हक़ अनुचित पाबन्दी नहीं लगनी चाहिए, परन्तु वह इस बात का उसे पा बनाता है कि अभिव्यक्ति के नाम पर बेहयाई (अश्लीलता) न फैल किसी की भावना को ठेस न पहुँचाए, किसी का मज़ाक़ न उड़ाए, कि की इज़्ज़त-आबरू से न खेले और देश एवं राज्य को ख़तरे में न और उसके ख़िलाफ़ साज़िश न करे। इन शर्तों के साथ उसे अभिव्य की आज़ादी दी गई है। दुनिया का कोई क़ानून ऐसा नहीं है जो उर इस प्रकार की पाबन्दी न लगाता हो। यह और बात है कि आज ब सारी चीज़ों को बेहयाई नहीं समझा जाता।

पारिवारिक जीवन गुज़ारने का अधिकार

यह भी इनसान का एक हक़ समझा जाता है कि उसे परिवार ब की छूट हो। इसलिए कि परिवार इनसान की एक फ़ितरी ज़रूरत है। मामले में इस्लाम की शिक्षाएँ इतनी स्पष्ट हैं कि इसके उल्लेख की श

ज़रूरत नहीं। वह कहता है कि परिवार ख़ुदा की देन और इनाम है। आदमी के बच्चों और पौत्रों का फैलना उसके लिए कष्ट का नहीं बल्कि प्रसन्नता और ख़ुशी का कारण है। परिवार के सिलसिले में इससे बड़ी बात और क्या कही जा सकती है! फिर यह कि उसने परिवार-संचालन का एक पूरा सिस्टम दिया और उसे बचाए रखने पर ज़ोर दिया है।

व्यक्तिगत जीवन (Privacy) का अधिकार

तन्हाई और ख़लवत (Privacy/व्यक्तिगत जीवन) को भी इनसान का एक हक़ स्वीकार किया गया है। इस्लाम ने न केवल यह कि इसका अधिकार दिया है बल्कि इसपर ज़ोर डाला है कि किसी के व्यक्तिगत जीवन में ताक-झाँक न की जाए अथवा उसकी निजी ज़िन्दगी में विघ्न न डाला जाए, यहाँ तक कि शासन को भी इसमें हस्तक्षेप का हक़ नहीं है।

देश और क़ौम की सेवा का अधिकार

यह भी इनसान का एक बुनियादी हक़ माना जाता है। इस्लाम में यह हक़ पहले से मौजूद है कि इनसान को देश और क़ौम की सेवा तथा ग़लत चीज़ों की आलोचना एवं सुधार का अवसर मिलना चाहिए। इस्लाम ने इनसान को यह हक़ दिया है और बताया है कि जो इनसान देश की सेवा करता है वह समाज का बेहतरीन और प्रशंसनीय व्यक्ति है। अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "क़वी (ताक़तवर) मोमिन, ज़ईफ़ (कमज़ोर) मोमिन से बेहतर है।"

ताक़तवर मोमिन इनसानों की, समाज और सोसाइटी की सेवा करेगा। जो कमज़ोर है उससे ऐसी आशा मुश्किल ही से की जाती है। एक और अवसर पर नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "वह मोमिन जो लोगों से मिलता-जुलता है, उनकी तकलीफ़ों (कष्टों) को सहन करता है, वह अच्छा है उस मोमिन से जो न किसी से मिलता है और न उनसे पहुँचनेवाली तकलीफ़ें सहन करता है।"

क़ुरआन कहता है कि यह इनसान का हक़ है कि वह सोसाइटी के कल्याण एवं भलाई के लिए काम करे। मुनाफ़िक़ों (ऐसे लोग जो ऊपरी

तौर पर मुसलमान हों और अन्दर से इस्लाम के प्रति आदर भाव न रखते हों अर्थात कपटाचारियों) से कहा गया कि तुम्हारी सरगोशियाँ तुम्हारे लिए फ़ायदेमन्द नहीं हैं। हाँ, यदि तुम लोगों के सुधार तथा उन्हें भलाई का हुक्म देने और बुराई से रोकने की बात करो तो यह तुम्हारे लिए बेहतर होगा और अल्लाह इसका बड़ा इनाम देगा। (क़ुरआन, 4:114)

आत्मरक्षा का अधिकार

एक और चीज़ जिसकी आजकल बड़ी चर्चा होती है वह है आत्मरक्षा। इस बात को तो दुनिया स्वीकार करती है कि हर एक को सुरक्षा का अधिकार है। कोई व्यक्ति किसी की जान लेना चाहे, किसी की इज़्ज़त-आबरू पर डाका डाले, किसी का माल-जायदाद छीनना चाहे, किसी के घर को आग लगाना और उसके परिवार पर हमला करना चाहे, तो ज़ाहिर है कि वह चुपचाप बैठा नहीं रहेगा। उसका मुक़ाबला करेगा, परन्तु इसमें असावधानी दो पहलुओं से होती है। कभी तो यह होता है कि आत्मरक्षा के लिए मुक़ाबले के नाम पर आदमी उन बातों का ख़याल नहीं रखता जिनका ख़याल रखना चाहिए। और कभी यह होता है कि दहशतगर्दी (आतंकवाद) और हिंसा के नाम पर आदमी को मुक़ाबले और आत्मरक्षा के अधिकार से भी वंचित कर दिया जाता है। इस्लाम में आत्मरक्षा की बहुत स्पष्ट अवधारणा है कि आत्मरक्षा के लिए मुक़ाबला कब होना चाहिए और कैसे होना चाहिए। वह किन हालात में जाइज़ है और किस हद तक जाइज़ है। ये सभी चीज़ें क़ुरआन और हदीस में मौजूद हैं और हमारे उलमा और फ़ुक़हा (इस्लामी विद्वान एवं धर्म-शास्त्रियों) ने भी बड़े विस्तार से इसपर लिखा है। आत्मरक्षा इनसान का बुनियादी हक़ है, परन्तु यदि इसके नाम पर ज़ुल्म और अत्याचार हो तो यह ग़लत है। यहाँ व्यक्तिगत आत्मसुरक्षा की बात है। दो राज्यों के बीच जो मुक़ाबला होता है उसकी यहाँ चर्चा नहीं की जा रही है।

कमज़ोरों के अधिकार

किसी लोकतान्त्रिक संविधान की एक अनिवार्य विशेषता यह समझी जाती है कि उसमें अल्पसंख्यकों और कमज़ोर वर्गों के लिए सुरक्षा की गारंटी हो, उन्हें दूसरों के समान अधिकार दिए जाएँ। उनका हक़ न मारा जाए और उन्हें ज़ुल्म-ज़्यादती से बचाने के उपाय किए जाएँ।

इस्लाम के आने से पहले कमज़ोरों के अधिकार अरब ही में नहीं दुनिया में कहीं भी सुरक्षित नहीं थे। उनका बुरी तरह शोषण हो रहा था और उनपर ज़ुल्म-ज़्यादती आख़िरी हद को पहुँच चुकी थी। इस्लाम ने शुरू ही से उनके पक्ष में आवाज़ उठाई और उनपर जो ज़ुल्म-ज़्यादती हो रही थी उसपर अल्लाह की ओर से कठोर दण्ड की चेतावनी दी तथा दुनिया और आख़िरत (लोक-परलोक) में उसके बुरे परिणाम से अवगत कराया। इस्लाम ने औरतों, कमज़ोरों, अनाथों, लावारिस बच्चों, अपंग लोगों और बूढ़ों के अधिकार केवल बयान ही नहीं किए बल्कि व्यावहारिक रूप से प्रदान भी किए। उसने समाज को उनके साथ अच्छे व्यवहार के लिए प्रेरित किया और हमदर्दी और सहयोग की भावना को विकसित किया।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

मानवाधिकार के ध्वजावाहक धार्मिक स्वतन्त्रता को भी इनसान का एक हक़ मानते हैं। इस्लाम ने बहुत स्पष्ट शब्दों में इसका एलान किया है। क़ुरआन कहता है कि यदि अल्लाह चाहता तो सभी लोगों को अपने दीन (इस्लाम) का पाबन्द बना देता कि कोई उससे बग़ावत न करता। परन्तु अल्लाह ने धर्म के मामले में इनसान को आज़ादी दी है और उसकी यह आज़ादी हमेशा बनी रहनी चाहिए। इसी में उसकी परीक्षा है। अल्लाह के नबी *(सल्ल.)* के हृदय में स्वाभाविक रूप से यह इच्छा थी कि आप जिन्हें भी इस्लाम की दावत दें सब सत्यमार्ग (अर्थात इस्लाम) पर चल पड़ें। क़ुरआन में है कि अल्लाह ने आप *(सल्ल.)* से कहा—

> "आपकी ज़िम्मेदारी नहीं है कि उन्हें ज़रूर ही सीधे रास्ते पर ले आएँ, बल्कि यह अल्लाह का काम है, वह जिसे चाहता है हिदायत देता है।" (क़ुरआन, 2:272)

क़ुरआन में यह उसूल भी बयान हुआ है—

> "दीन (धर्म) के सिलसिले में कोई जब्र (ज़ोर-ज़बरदस्ती) नहीं है, हिदायत (सुमार्ग) और ज़लालत (कुमार्ग और गुमराही) स्पष्ट हो चुकी है।" (क़ुरआन-2:256)

अर्थात अब यह आदमी को हक़ है कि वह जिस राह को चाहे अपना ले। क़ुरआन में है—

> "जिसका जी चाहे ईमान लाए और जिसका जी चाहे इनकार कर दे।" (क़ुरआन, 18:29)

क़ुरआन ने कहा कि मज़हब पर बातचीत भी हो सकती है, परन्तु यह बातचीत शिष्टाचार के दायरे में होनी चाहिए। इसमें यह निर्देश दिया गया है कि अगर धर्म पर वार्ता हो तो सलीक़े और शिष्टाचार के साथ हो। इसके लिए ग़लत और अशोभनीय तरीक़ा न अपनाया जाए। उलमा ने यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई ग़ैर-मुस्लिम, इस्लामी राज्य में खुल्लम-खुल्ला यह कहता है कि मैं क़ुरआन को अल्लाह की किताब नहीं मानता, मुहम्मद *(सल्ल.)* को अल्लाह का रसूल नहीं स्वीकार करता तो भी इस्लामी स्टेट उसके ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं करेगी। हाँ, यदि वह अपशब्दों पर उतर आए तो उसके ख़िलाफ़ कार्रवाई की जाएगी। मुहम्मद *(सल्ल.)* की शान में, या हज़रत मूसा *(अलै.)*, हज़रत ईसा *(अलै.)* या किसी भी पैग़म्बर की शान में गुस्ताख़ी एक दण्डनीय अपराध है। इसी प्रकार किसी धर्म के संस्थापक या उसके बाइज़्ज़त व्यक्तियों का अपमान और उनके सम्बन्ध में अपशब्द भी दण्डनीय अपराध है और क़ानून के अनुसार उसपर सज़ा दी जाएगी।

वास्तविकता यह है कि जो अधिकार किसी व्यक्ति अथवा वर्ग को मिलने चाहिएँ, इस्लाम वे सभी अधिकार प्रदान करता है और इनसान की फ़ितरी ज़रूरतों की अच्छे ढंग से पूर्ति करता है। सबसे बड़ी बात यह कि वह दुनिया ही की कामयाबी की नहीं, आख़िरत (परलोक) की कामयाबी की भी ज़मानत देता है।



कमज़ोर की समस्याएँ और इस्लाम

क्या धर्म कमज़ोर का दुश्मन है

दुष्प्रचार में बड़ी ताक़त है। इससे ऐसा वातावरण बन जाता है कि इसके ख़िलाफ़ कुछ सोचना भी मुश्किल हो जाता है, बोलना तो और भी मुश्किल है। परन्तु दुष्प्रचार से हक़ीक़त नहीं बदल जाती। किसी ग़लत बात को बार-बार दोहराया जाए तो कभी-कभी अच्छे ख़ासे समझदार और बुद्धिजीवी लोग भी धोखा खा जाते हैं और उसके सच होने पर विश्वास कर बैठते हैं, परन्तु इससे कोई ग़लत बात सही नहीं हो जाती। ग़लत ग़लत ही है, चाहे उसके पक्ष मे सारी दुनिया चीख़ने-चिल्लाने ही क्यों न लग जाए। सही अपनी जगह सही है, चाहे उसके समर्थन में एक आवाज़ भी न उठे। धर्म के बारे में यह दुष्प्रचार पहले भी बड़े ज़ोर-शोर से होता रहा है और आज भी होता रहता है कि वह पूँजीपतियों का एजेंट है। शक्तिशाली वर्ग का दोस्त और समर्थक है, कमज़ोर (निर्बल) के शोषण और उसे ग़ुलाम बनाए रखने का ज़रीआ है। धर्म अफ़ीम की गोली या मार्फ़िया का इंजक्शन है जो कमज़ोर को इसलिए लगाया जाता है कि उसके जिस्म का बचाखुचा ख़ून भी इस प्रकार चूस लिया जाए कि उसे इसका अहसास तक न हो। और जो व्यक्ति पहले ही से ख़ूब तन्दुरुस्त और ताक़तवर है वह अब कुछ और मोटा-ताज़ा तथा पुष्ट होकर और अधिक ख़ूनख़राबा करता फिरे।

दुनिया में बहुत-से मज़हब (धर्म) हैं, इस्लाम को भी उन्हीं में से एक मज़हब समझा जाता है। यहाँ विषय से थोड़ा हटकर एक बात बयान कर देनी उचित होगी, वह यह कि इस्लाम सामान्य अर्थों में मज़हब नहीं है, बल्कि वह एक 'दीन' (जीवन-व्यवस्था) है, जो चाहता है कि पूरी ज़िन्दगी में ईश्वर के आदेशों और क़ानूनों पर चला जाए। बहरहाल, जान-बूझकर या ग़लतफ़हमी (अज्ञानता) के कारण जब धर्म पर एतिराज़ किया जाता है तो इस्लाम भी बड़ी आसानी से उसकी चपेट में आ जाता है। और अब तो इस्लाम ही दुष्प्रचार का अस्ल लक्ष्य बन गया है। यदि आंशिक

रूप से दूसरे धर्म भी इसकी चपेट में आ जाते हैं तो इसमें दुष्प्रचार करनेवालों को कोई नुक़सान नहीं, बल्कि फ़ायदा ही फ़ायदा है। विशेषकर इस्लाम को निशाना बनाने की एक बड़ी वजह यह है कि दुनिया के धर्मों में इस्लाम ही सबसे ज़्यादा जानदार और ताक़तवर धर्म है। अपने माननेवालों पर उसकी पकड़ जितनी मज़बूत है उतनी किसी दूसरे धर्म की नहीं है। इस्लाम को मुख्य रूप से निशाना बनाने की एक वजह और भी है। वह यह कि इसके अन्दर एक नए इनक़िलाब की जितनी ताक़त और क्षमता है वह किसी दूसरे धर्म या दर्शन में नहीं है। अतः इस्लाम की वैचारिक पराजय के बाद किसी दूसरे धर्म या दर्शन से मौजूदा हालात में यह ख़तरा नहीं है कि वह प्रतिद्वंदी बनकर सामने आएगा।

इस्लाम का एक मामूली विद्यार्थी होने की हैसियत से मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि उपरोक्त प्रोपेगैंडा एक निराधार आरोप है। आरोप लगाने के लिए भी कोई न कोई आधार तलाश कर लिया जाता है और तिल का ताड़ बना लिया जाता है, परन्तु ढूँढने से भी इसका कोई आधार इस्लाम में नहीं मिलता। निराधार आरोप का इसे एक स्पष्ट नमूना कहा जा सकता है।

कमज़ोर की वकालत

इस्लाम को यदि कमज़ोरों का नुमाइन्दा या वकील कहा जाए तो ग़लत न होगा। इस्लाम ने कमज़ोर की वकालत की तो किसी ग़लत मुक़द्दमे की वकालत नहीं की बल्कि एक सही और जाइज़ केस की वकालत की। और इस तरह की कि आज तक उसके पक्ष में जो कुछ भी कहा जाता है। या भविष्य में कहे जाने की सम्भावना है, ऐसा मालूम होता है कि उसमें नया कुछ नहीं होता, बल्कि सब इस्लाम ही से लेकर कहा जाता है।

कमज़ोर के अधिकारों की रक्षा

इस्लाम कमज़ोर का वकील ही नहीं उसके अधिकारों का रखवाला और निगहबान भी है। इस्लाम से पहले दुनिया में कमज़ोरों का कोई हक़ नहीं था। वह दूसरों के रहमो-करम पर जीता था। जीता क्या था, बल्कि यह सोचकर ज़िन्दगी के दिन काटता था कि मौत के बाद तो चैन की

ींद नसीब होगी। उसका शरीर और जान दोनों मुसीबतों और यातनाओं क शिकार थे। उसपर जो भी ज़ुल्म होता, दुनिया की किसी अदालत में उसकी सुनवाई नहीं होती थी। उसका वुजूद सबकी सेवा और आराम के लेए था, परन्तु ख़ुद उसके आराम व राहत का यहाँ कोई सामान नहीं था। समाज में उसकी हैसियत इतनी गिर गई थी कि वह अपने वुजूद ही र शर्म, बल्कि नफ़रत और घृणा का अनुभव करता था। यह था उसका अतीत। उसका वर्तमान भी इससे कुछ अधिक भिन्न नहीं है। हाँ, कमज़ोर और उसकी समस्याओं की चर्चा अब इतनी ज़्यादा होने लगी है के कभी-कभी लगता है कि अब उसके बुरे दिन फिर जाएँगे। दुख-दर्द से अब उसे छुटकारा मिल जाएगा और वह एक नई और उज्ज्वल ज़िन्दगी की शुरुआत करेगा। परन्तु यह एक ख़ाब से ज़्यादा कुछ नहीं। कमज़ोर के साथ हमदर्दी व्यक्त करना, उसके समर्थन का दावा करना, उसके अधिकारों के लिए नारे लगाना, उसके पक्ष में भाषण और शोध पत्र पढ़ना, उपदेश और नसीहत करना— ये सभी काम बहुत आसान हैं। इसके लिए किसी मेहनत, क़ुरबानी और सोचे-समझे निर्णय की भी ज़रूरत नहीं पड़ती। यही कारण है कि स्वार्थी और अवसरवादी इनसान भी इसका श्रेय लेने में किसी से पीछे नहीं रहना चाहता। बल्कि पुण्य की इस बहती गंगा में कमज़ोरों के दुश्मन भी अपना हाथ धोने में शान समझते हैं और इतने बड़े-बड़े दावे करते हैं कि बेचारा कमज़ोर (निःशक्त, दलित) अपनी सादगी और सीधेपन के कारण उन्हें अपना हितैषी और हमदर्द समझने पर मजबूर हो जाता है। स्पष्ट है कि इन झूठे हमदर्दों के सहारे कमज़ोर की समस्याएँ न हल हुई हैं और न होंगी। वह आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से जहाँ कल था, आज भी वहीं है। और आसार बताते हैं कि भविष्य में भी वहीं रहेगा। उसका शोषण करने और लूटनेवाले वेश बदल-बदलकर नित नए नामों से और झूठी हमदर्दी, आश्वासन और वादों जैसे आधुनिक हथियारों से लैस होकर उसे लूटते रहेंगे और उसका शोषण करते रहेंगे।

इस्लाम ने कमज़ोर को उसके छीने गए अधिकार दिए, उसपर होने वाले ज़ुल्म और अत्याचार का ख़ात्मा किया। उसके अन्दर साहस, हिम्मत और धैर्य पैदा किया और उसे बाइज़्ज़त और सम्मानित ज़िन्दगी प्रदान की। इस्लाम उसके लिए रहमत का बादल साबित हुआ। इससे उसके मृत

शरीर में फिर से जान आ गई और उसकी सूखी खेती लहलहा उठी। उसे वह सुकून, राहत और सन्तुष्टि मिली जिसकी कल्पना भी वह आसानी से नहीं कर पा रहा था।

समस्याओं की व्यापक परिकल्पना

कमज़ोर (निःशक्त/दलित) और उसकी समस्याओं की हर ओर चर्चा है और उन्हें हल करने के उपाय और कोशिशें भी लगातार हो रही हैं, परन्तु ये सारी कोशिशें उसकी एक आर्थिक समस्या के ऊपर ही केन्द्रित हैं। समझा जाता है कि कमज़ोर की मूल समस्या, आर्थिक समस्या है। यदि इसका समाधान हो गया तो उसकी अन्य सभी समस्याएँ खुद हल हो जाएँगी। परन्तु यह कमज़ोर की समस्याओं, बल्कि किसी भी इनसान की समस्याओं की सीमित परिकल्पना है। इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक समस्या की बड़ी अहमियत है, परन्तु यह भी एक हक़ीक़त है कि इनसान मात्र आर्थिक पशु (हैवान) नहीं है कि चारा-पानी पाकर सन्तुष्ट हो जाए और उस चारे-पानी की जितनी अधिक मात्रा एवं गुणवत्ता हो उतना ही ज़्यादा वह सन्तुष्ट होता जाए। भोजन, लिबास, मकान, शिक्षा, दवा-इलाज इनसान की अहम ज़रूरतें हैं, उनका पूरा होना ज़रूरी है। उनका ध्यान अवश्य रखना चाहिए। परन्तु यह विचार ग़लत है कि ये ही उसकी कुल समस्याएँ हैं। इन समस्याओं का समाधान हो जाए तो वह हर पहलू से सन्तुष्ट और बेनियाज़ (निस्सपृह) हो जाएगा और किसी प्रकार की मदद की उसे ज़रूरत न होगी। हक़ीक़त यह है कि कमज़ोर की कमज़ोरी के कई पहलू हैं। उसकी कमज़ोरी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक, वैचारिक, शारीरिक, भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक कई प्रकार की हो सकती है। जो व्यक्ति भूखा, नंगा और माली मदद का मोहताज है यक़ीनन उसकी समस्या आर्थिक है, परन्तु जो व्यक्ति माल-दौलत रखते हुए भी किसी असाध्य रोग से घिरा है उसकी समस्या आर्थिक नहीं, मनोवैज्ञानिक है। वह रुपया-पैसा नहीं, रूहानी सुकून चाहता है। धन-दौलत से मालामाल किसी औरत का अपनी भरपूर जवानी में सुहाग लुट जाए तो

समाज में सुरक्षा, इज़्ज़त और सम्मान चाहती है। इसी प्रकार यदि ा व्यक्ति को दौलत ने अय्याशी और आवारगी में डाल दिया हो तो ो कमज़ोरी आर्थिक नहीं, नैतिक है। उसे खाने-कपड़े की नहीं, सुधार शिक्षा की ज़रूरत है। इस्लाम की नज़र इनसान की हर तरह की ोरियों पर है और वह उन सबका इलाज करता है। वह ग़रीबों और तमन्दों की आर्थिक ज़रूरत पूरी करता है, मज़दूरों और महकूमों की ाएँ हल करता है, बेरोज़गारों को रोज़गार देता है और क़र्ज़दारों की ता करता है। औरतों, विधवाओं, और अनाथों की सरपरस्ती करता ार समाज में उन्हें ऊँचा स्थान देता है। बीमारों, अपाहिजों, बूढ़ों ल के मारों और किसी विपदा के पीड़ितों के साथ हमदर्दी का रवैया ाता है और उनके कष्टों को दूर करता है। वह चाहता है कि जिस त को जिस प्रकार की मदद की ज़रूरत हो, वह उसे पहुँचाई जाए। यह मदद सामयिक और आकस्मिक हो या मुस्तक़िल और छोटी हो ड़ी, भौतिक मदद हो या नैतिक, चाहे जैसी मदद की ज़रूरत हो वह ई जाए ताकि कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थिति में स्वयं को बेसहारा ्सूस करे और समाज में अपना भरपूर योगदान कर सके।

ज़ोर व्यक्ति और कमज़ोर वर्ग दोनों की मदद

आज पूरी दुनिया कमज़ोर और ताक़तवर क़ौमों में बँट गई है। जिन के पास ताक़त और सत्ता है वे कमज़ोर क़ौमों का बुरी तरह शोषण ही हैं। फिर यह कि हर क़ौम और मुल्क में कमज़ोर और ताक़तवर ही वर्ग मौजूद हैं। उनमें के ताक़तवर वर्ग कमज़ोर वर्ग से नाजाइज़ ा उठा रहे हैं और उन्हें उनके बुनियादी मानवाधिकारों तक से वंचित खा है। ये दोनों वर्ग एक-दूसरे के प्रतिद्वन्दी बन चुके हैं और उनके राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कशमकश हो रही है। उनकी ाएँ भी अब वर्गीय और जातीय समस्याएँ बन चुकी हैं। इसी रूप में बारे में सोचा भी जाता है। इसी प्रकार यह विषय कमज़ोर व्यक्ति हीं, कमज़ोर वर्गों का बन गया है, परन्तु यहाँ दो ख़ास और अहम

हक़ीक़तों को नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है। एक तो यह कि जिन व को हम सम्पन्न और सन्तुष्ट (अर्थात उच्च वर्ग) समझते हैं, हो सकता कि उनमें भी ऐसे व्यक्ति हों जो हमारी हमदर्दी के मोहताज हों। इ प्रकार जिन वर्गों को हम कमज़ोर कहते हैं (अर्थात निम्न वर्ग) उनमें .ख़ुशहाल व्यक्ति हो सकते हैं, बल्कि वास्तविकता यह है कि ऐसे व्यवि यक़ीनन होते हैं। यदि हम वर्ग की परिभाषा में सोचें और अमल करें अधिकतर कमज़ोर लोगों की ओर तवज्जोह नहीं होती और वे उ सहायता और सहारे से वंचित रह जाते हैं जिसके वास्तव में वे मुस्तहि (पात्र) हैं। दूसरी बात यह कि हमारे सामने इनसान का केवल आर्थि पिछड़ापन ही न हो, बल्कि पिछड़ेपन की व्यापक परिकल्पना हो महसूस होगा कि दुनिया का हर आदमी दूसरे की मदद का मोहताज चाहे किसी भी वर्ग से उसका सम्बन्ध क्यों न हो। बीमारी, दुख-तकली अपंगता, बुढ़ापा, शारीरिक दुर्बलता और जानी एवं माली नुक़सान से कौ नहीं दोचार होता और इन सब स्थितियों में कौन नैतिक या क़ानूनी मद का मोहताज नहीं होता?

इस्लाम किसी भी क़ौम के शोषण को जाइज़ नहीं समझता, पर इसके साथ-साथ वह कमज़ोर को कमज़ोर के रूप में देखता है और उ जिस वक़्त, और जिस प्रकार की मदद की ज़रूरत हो, वह उपलब कराता है।



कमज़ोर : इस्लाम की नज़र में

,निया में बादशाहों, अमीरों और रईसों की हुकूमत रही है। उन्हें ही और रहनुमाई का हक़ प्राप्त था और यह उनका फ़ितरी हक़ समझा था। समाज के कमज़ोर व्यक्तियों और वर्गों को चाहे-अनचाहे उनके चलना पड़ता था, उनके ख़िलाफ़ दम मारने की भी उन्हें इजाज़त ो। किसी का अपनी और दूसरों की भलाई के बारे में सोचना और लिए अमली तौर पर कुछ करना बग़ावत समझा जाता था तथा क्ति के साथ इन्हें दबा दिया जाता। इस्लाम ने इस मानसिकता को त बताया कि नेतृत्व का सम्बन्ध माल-दौलत अथवा ताक़त से है। और वास्तविक नेतृत्व अल्लाह के पैग़म्बर दुनिया को प्रदान करते माज के कमज़ोर लोगों और वर्गों ने इस अवधारणा में अपनी ाओं का हल देखा और पूरी निष्ठा के साथ इसके साथ हो गए।

र ख़ुशहाल और शासक-वर्ग से नहीं होते

निया में अल्लाह के बहुत-से पैग़म्बर आए, विभिन्न काल और न क्षेत्रों में आए। उनका चरित्र और सम्पूर्ण जीवन आईने की तरह और उज्ज्वल था। उनके अख़लाक़ (आचरण) पर किसी ने ब्बा नहीं देखा, उनके जानी दुश्मनों ने भी उनके उच्चाचरण की दी। उनका सम्बन्ध शरीफ़ और सम्मानित क़बीलों से तो होता था : स्वयं भी समाज में माननीय समझे जाते थे, परन्तु आर्थिक दृष्टि कोई अलग-उच्च हैसियत नहीं रखते थे। उनका सम्बन्ध ख़ुशहाल शपसन्द वर्ग से नहीं था। वे मध्य या निम्न वर्ग से हुआ करते थे। ज़िन्दगी भोग-विलास से पाक होती थी। अल्लाह के रसूल मुहम्मद ने अल्लाह के दीन की ओर लोगों को दावत दी तो अरब के : ने कहा–

> "यह क़ुरआन दोनों बस्तियों (मक्का और तायफ़) के किसी बड़े आदमी पर क्यों नहीं अवतरित किया गया।"
>
> (क़ुरआन, 43:31)

ल्लाह के नबी हज़रत मूसा *(अलै.)* को देखकर फ़िरऔन ने कहा–

"(यदि यह अल्लाह का रसूल है तो) इसे सोने के कंगन क्यों नहीं पहनाए गए या इसके साथ में फ़रिश्तों का दस्ता क्यों नहीं आया।" (क़ुरआन, 43:53)

इस शुद्ध भौतिक और दुनिया-परस्ताना सोच की क़ुरआन ने जगह-ज भर्त्सना की है[1]।

पैग़म्बर जनसामान्य को सम्बोधित करते हैं

अल्लाह के जितने पैग़म्बर इस दुनिया में आए, सबने इस्लाम ही दावत दी। यह दावत बिलकुल आम होती थी अर्थात यह दावत स लिए होती थी। वे जिस क़ौम, जिस इलाक़े में आते वहाँ सभी लोगों अल्लाह के दीन की ओर बुलाते— खुशहाल, बदहाल, शासक, शासि राजा, प्रजा सभी उनकी दावत का लक्ष्य होते। उनकी दावत हर प्रकार वर्गीय संघर्ष से मुक्त होती। वे किसी के साथ पक्षपात नहीं करते। सबकी हिदायत चाहते और सबको सीधे रास्ते पर देखना चाहते थे।

कमज़ोर वर्गों का पैग़म्बर के प्रति आकर्षण

यह एक हक़ीक़त है कि हर दौर में समाज के कमज़ोर व्यक्ति और कमज़ोर वर्गों ने ही पैग़म्बरों का साथ देने और इस्लाम को अपन में पहल की। जो लोग भोग-विलास में डूबे थे, आराम और सुख

---

1. अल्लाह ने अपने पैग़म्बरों को दुनिया में हुकूमत और सत्ता भी प्रदान की बनी-इसराईल के इतिहास में इसकी मिसालें मिलती हैं। मुहम्मद *(सल्ल.)* की वफ़ा (मृत्यु) के समय सम्पूर्ण अरब पर अल्लाह के दीन इस्लाम का वर्चस्व था और आ *(सल्ल.)* उसके सरबराह (प्रमुख) थे। आप *(सल्ल.)* के बाद आपके ख़ुलफ़ा (प्रतिनिधि और सहाबा के ज़रीए ज्ञात दुनिया के एक बड़े भूभाग पर इस्लाम की हुकूमत थी। सब कुछ दीन (इस्लाम) की सरबुलन्दी की कोशिश का नतीजा था। किसी बादशाह सत्ता-प्रमुख को अल्लाह का रसूल नहीं बनाया गया। हज़रत दाऊद *(अलै.)* अल्लाह नबी हुए और उन्हें ज़मीन की ख़िलाफ़त (धरती का प्रतिनिधित्व अर्थात शासनाधिक भी मिली। उनकी औलाद में हज़रत सुलैमान *(अलै.)* उनके उत्तराधिकारी हुए। यह नुबू और हुकूमत का एक प्रकार से सिलसिला था जिसके समाप्त होने के बाद ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन नुबूवत और हुकूमत के कार्य में अल्लाह के आख़िरी रसूल मुहम्मद *(सल्ल.)* उत्तराधिकार प्राप्त हुआ।

न गुज़ार रहे थे और जिनके हाथ में सत्ता की बागडोर थी, उन्होंने तौर से इस्लाम की दावत और पैग़म्बरों पर कोई ध्यान नहीं दिया, ㅎ वे तो इस्लाम की दावत के सख़्त विरोधी तथा दुश्मन बन गए। ब्त्ता कुछ पवित्रात्माएँ इसका अपवाद भी हैं और दुनिया का कोई भी इस तरह की पवित्रात्माओं से रिक्त नहीं होता। निस्सन्देह आराम, और भोग-विलास का जीवन त्याग कर और हर प्रकार के सामाजिक नों को तोड़कर उन्होंने इस्लाम के आवाहकों अर्थात नबियों का साथ । क़ुरआन में है–

> "हमने जिस बस्ती में भी अपना कोई डरानेवाला (पैग़म्बर) भेजा तो उसके ख़ुशहाल लोगों ने कहा कि जो पैग़ाम तुम लाए हो हम उसे माननेवाले नहीं हैं। हम तुमसे ज़्यादा माल, औलाद रखते हैं और हमें हरगिज़ सज़ा नहीं दी जाएगी।"
>
> (क़ुरआन, 34:34, 35)

शासक और ख़ुशहाल वर्ग का ख़ुदा के धर्म के प्रति यह उपेक्षापूर्ण अपनाने के कई कारण हैं। एक तो यह कि उन्हें यह घमण्ड है कि ा की सारी समझ-बूझ उन्हें ही प्राप्त है। वे स्वयं को सबसे बुद्धिमान दूसरों को मूर्ख और नादान समझते हैं। वे समझते हैं कि उनकी मत्ता एवं ज्ञान पर और दूसरों की मूर्खता एवं अज्ञान पर कुछ सोच र की ज़रूरत नहीं, यह अटल सत्य है। वे माल-दौलत को ही नहीं ाई और ईमानदारी को भी अपने घर की दासी समझते हैं। वे यह ना भी नहीं कर सकते कि जिस सूझ-बूझ और बुद्धिमत्ता के ज़रीए ंने धन और सत्ता हासिल की है वह तो सत्य एवं संमार्ग को ानने से चूक जाएँ और जिन नादानों और मूर्खों को वे दिन-रात लूटते हैं, और जो उनके अधीन हैं, वे उसे पहचान भी लें और उसके ावाहक भी बन जाएँ। हज़रत नूह *(अलै.)* अल्लाह के महान पैग़म्बरों हैं। जब उनका साथ अल्लाह के नेक परन्तु मज़लूम इनसानों ने तो उनके सम्बन्ध में उनकी क़ौम के सरदार कहते थे–

> "उसकी क़ौम के सरदार, जिन्होंने उसकी बात मानने से इनकार कर दिया था, बोले कि हम तो तुम्हें अपने ही जैसा एक आदमी समझते हैं और हम देख रहे हैं कि हमारी क़ौम में

से केवल उन लोगों ने, जो हमारे यहाँ निम्न कोटि के लोग थे, बेसोचे-समझे तुम्हारी पैरवी इख़्तियार कर ली है और हम कोई चीज़ भी ऐसी नहीं पाते जिसमें तुम लोग हमसे कुछ बढ़े हुए हो, हम तो तुम्हें झूठा समझते हैं।" (क़ुरआन, 11:27)

वे चाहते थे कि हज़रत नूह *(अलै.)* इन लोगों को अपने साथ न हज़रत नूह *(अलै.)* ने उनकी थोथी दलील का जवाब इस प्रकार दिया-

"मैं उन लोगों को धक्के देकर भगा नहीं सकता जो ईमान लाए हैं, वे अपने रब के समक्ष जानेवाले हैं। परन्तु मैं देखता हूँ कि तुम लोग जिहालत (अज्ञान) बरत रहे हो। ऐ मेरी क़ौम! यदि मैं इन लोगों को धुत्कार दूँ तो ख़ुदा की पकड़ से मुझे कौन बचाएगा क्या तुम लोगों को इतनी बात समझ में नहीं आती? और मैं तुमसे यह नहीं कहता कि मेरे पास अल्लाह के ख़ज़ाने हैं, न यह कहता हूँ कि मैं ग़ैब का इल्म (परोक्ष का ज्ञान) रखता हूँ, न यह मेरा दावा है कि मैं फ़रिश्ता हूँ। और यह भी मैं नहीं कहता कि जिन लोगों को तुम्हारी आँखें हिक़ारत से (हेय दृष्टि से) देखती हैं उन्हें अल्लाह किसी भलाई से नहीं नवाज़ेगा। अल्लाह उनके नफ़्स (मन) का हाल ख़ूब जानता है। यदि मैं ऐसा कहूँ तो मेरी गिनती ज़ालिमों में होगी।" (क़ुरआन, 11, 29 से 31)

कमज़ोरों ने अन्तिम पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) का भी साथ ि

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद *(*स जब नबी बनाए गए तो शुरुआती दौर में आपका साथ ज़्यादातर स के कमज़ोरों ही ने दिया। इस बात को हज़रत अबू-सुफ़ियान *(रज़ि.)* ने शाम (सीरिया) के बादशाह हिरक़्ल के सामने व्यक्त किया, उस स तक अबू-सुफ़ियान *(रज़ि.)* ने इस्लाम क़बूल नहीं किया था। हिरक़्ल पूछा—

"क़ौम के माननीय लोग मुहम्मद की पैरवी कर रहे हैं या उसके निम्न और कमज़ोर लोग?"

हज़रत अबू-सुफ़ियान *(रज़ि.)* ने जवाब दिया—

"क़ौम के कमज़ोर उनका साथ दे रहे हैं।"

एक प्राचीन इस्लामी इतिहासकार इब्ने-इस्हाक़ ने अधिक स्पष्ट शब्दों अबू-सुफ़ियान *(रज़ि.)* का बयान उद्धृत किया है—

"हममें जो कमज़ोर और ग़रीब हैं वे उनका साथ दे रहे हैं, बाक़ी रहे उच्च कुल और इज़्ज़तवाले-समाज के माननीय लोग, तो उनमें से किसी ने उनका साथ नहीं दिया है।"

(फ़त्हुल-बारी, 1/26)

यह सुनकर हिरक़्ल ने जवाब दिया—

"रसूलों की पैरवी करनेवाले (अनुयायी) यही (कमज़ोर लोग) होते हैं।" (हदीसः बुख़ारी, किताबुल-वह्य)

अल्लामा इब्ने-कसीर जो मुफ़स्सिर (क़ुरआन के व्याख्याकार) और ाहासकार दोनों हैसियतों से बड़ा ऊँचा स्थान रखते हैं, फ़रमाते हैं—

"नबी *(सल्ल.)* का शुरू में जिन लोगों ने साथ दिया उनमें से अधिकतर कमज़ोर मर्द, औरतें, ग़ुलाम और लौंडियाँ (दासियाँ) थीं। ऊँचे लोगों में से आप *(सल्ल.)* पर ईमान लानेवाले बहुत थोड़े थे।" (तफ़्सीर इब्ने-कसीर, 2/153)

क़ुरैश (मक्का का एक क़बीला) के सरदारों और धनी लोगों की ाझ में यह बात नहीं आ रही थी कि मुहम्मद *(सल्ल.)* का दीन सच्चा है यह उन ग़रीबों और निर्बल लोगों में इतना क्यों फैल रहा है और हम ासे क्यों अब तक दूर हैं? वे समझते थे कि दीन और दुनिया की ाई और तरक़्क़ी तो हमारी क़िस्मत में लिखी गई है; ज्ञान, विवेक और ुद्धिमानी तो हमारी मीरास (पैतृक सम्पत्ति) है। अतः यदि इस दीन में ाई होती तो असम्भव था कि हम पीछे रह जाते और समाज के ा-कुचले लोग आगे बढ़कर इसे अपना लेते। क़ुरआन के शब्दों में—

"यदि इसमें भलाई होती तो इस मामले में ये (पिछड़े लोग) हमसे बाज़ी न मार लेते।" (क़ुरआन, 46:11)

क़ुरैश के सरदार कभी इस प्रकार आपत्ति करते कि यदि भलाई के साथ है तो ये भूखे-नंगे और परेशानहाल क्यों हैं? क्यों इनकी

हालत अच्छी नहीं होती? क्या हमारी वर्तमान हैसियत और सम्पन्नता बात की गवाही नहीं देती कि ज्ञान और बुद्धि हमारे पास है? हम सच पर हैं और इन बेचारों ने नादानी और बेवक़ूफ़ी का रास्ता अपनाया क़ुरआन ने इस सोच और मानसिकता को इस तरह बयान किया है–

> "जब इन्हें हमारी बिलकुल खुली हुई स्पष्ट आयतें पढ़कर सुनाई जाती हैं तो जिन लोगों ने कुफ़्र का रवैया अपनाया है वे कहते हैं कि दोनों पक्षों में कौन माल-दौलत की दृष्टि से बेहतर हालत में है और किसकी मजलिस शानदार है?"
>
> (क़ुरआन, 19:73)

क़ुरैश के सरदारों ने अल्लाह के रसूल मुहम्मद *(सल्ल.)* की ख़िदमत हज़रत ख़ब्बाब, हज़रत बिलाल , हज़रत अम्मार और हज़रत ज़ैद *(र.* जैसे ग़ुलामों और निम्न-वर्ग के लोगों को देखा तो नबी *(सल्ल.)* से व कि ये हैं आपके साथी! क्या पूरी क़ौम में से यही आपको मिले? व इन ही पर अल्लाह का एहसान हुआ है? क्या इस 'सरमाये' (धन) आप ख़ुश और सन्तुष्ट हैं? यदि आप इन्हें हटा दें तो हम आपकी ब सुन सकते और ग़ौर कर सकते हैं।

क़ुरआन कमज़ोरों और निर्बलों को सीने से लगाने आया है। उर क़ुरैश के सरदारों को कोई नुमायाँ हैसियत देने से इनकार कर दि क्योंकि इससे उनका घमंड और बढ़ जाता। क़ुरआन ने हुक्म दिया–

> "जो लोग अपने रब को रात-दिन पुकारते रहते हैं और उसकी प्रसन्नता की चाह में लगे हुए हैं उन्हें अपने से दूर न फेंक दो। उनके हिसाब में से किसी चीज़ का भार न तुमपर है और न तुम्हारे हिसाब में से किसी चीज़ का भार उनपर है। इसपर भी यदि तुम उन्हें दूर कर दोगे तो तुम्हारी गिनती ज़ालिमों में होगी। वास्तव में हमने इस प्रकार उन लोगों में से कुछ को कुछ (अन्य लोगों) के ज़रीए आज़माइश में डाला है ताकि वे उन्हें देखकर कहें कि ये हैं वे लोग जिनपर हमारे बीच अल्लाह का फ़ज़्लोकरम (कृपा एवं अनुग्रह) हुआ है। हाँ! क्या ख़ुदा अपने शुक्रगुज़ार बन्दों को उनसे ज़्यादा नहीं जानता है।"
>
> (क़ुरआन, 6: 52, 53)

कुरआन में एक अन्य जगह है—

> "अपने आपको उन लोगों के साथ रोके रखो जो अपने रब को उसकी प्रसन्नता की चाह में सुबह-शाम पुकारते हैं। तुम्हारी आँखें दुनिया की ज़िन्दगी की ज़ेबो-ज़ीनत (बनाव-सिंगार) की तलाश में उन लोगों से हटने न पाएँ। तुम उस व्यक्ति की बात न मानो जिसके दिल को हमने अपनी याद से ग़ाफ़िल कर दिया है, जो अपनी ख़्वाहिश के पीछे पड़ा हुआ है और जिसका मामला हद से बढ़ा हुआ है।" (क़ुरआन, 18:28)

इस प्रकार समाज के जो कमज़ोर व्यक्ति और वर्ग इस्लाम की ओर खिंचे आ रहे थे इस्लाम उन्हें इज़्ज़त और सम्मान के साथ अपनी छत्रछाया में ले रहा था। वह इन कमज़ोरों और मज़लूमों को क़ुरैश के उन सरदारों की अपेक्षा ज़्यादा इज़्ज़त और बुलन्दी का स्थान दे रहा था और उन्हें ही अपनी पूँजी समझ रहा था जिनके सिर सच्चाई और हिदायत के आगे तो झुकने के लिए तैयार नहीं थे बल्कि उल्टे सच्चाई और हिदायत को अपनी कामनाओं के अधीन देखना चाह रहे थे।



शरीअत में कमज़ोरों को सुविधाएँ

इस्लाम ने कमज़ोर के बारे में जो नीति अपनाई है उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक आदि हर स्तर पर है।

मज़हब का नाम आते ही पूजा-पाठ, कठोर साधना, तपस्या कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज, बन्दिश और कठिन ज़िन्दगी का तसव्वुर दिमाग़ में उभरने लगता है और आदमी सोच में पड़ जाता है कि मज़हब इनसान के सुधार, प्रशिक्षण और उसके दुख-दर्द का इलाज है या उसकी इच्छाओं के दमन और आत्मा की परेशानी का सामान? उसका कमज़ोर शरीर और प्राण दुनिया के बोझ के साथ धर्म का बोझ भी उठा सकते हैं या नहीं? फिर वह निराश होकर, कभी उसे अपना दुर्भाग्य समझकर और अधिकतर हालात में सौभाग्य समझकर, धर्म की बेड़ियाँ निकाल फेंकता है और हर बन्दिश से आज़ाद होकर दुनिया के झमेलों में गिरफ्तार हो जाता है।

इस्लाम ने धर्म के नाम पर जो अनुचित बन्दिशें थीं, उन्हें ख़त्म किया। क़ुरआन ने अपने लानेवाले पैग़म्बर मुहम्मद *(सल्ल॰)* की एक विशेषता इस तरह बयान करता है—

> "उनपर से वह बोझ उतारता है जो उनपर लदे हुए थे, और वे बन्दिशें खोलता है जिनमें ये जकड़े हुए थे।" (क़ुरआन, 7:157)

क़ुरआन का अध्ययन करते समय क़दम-क़दम पर महसूस होता है कि उसे अवतरित करनेवाला (अल्लाह) अत्यन्त सूझ-बूझवाला, तत्त्वदर्शी और बड़ा ही दयालु और कृपाशील है। वह इनसान की शक्ति-सामर्थ्य और क्षमताओं से भी परिचित है और उसकी कमज़ोरियों, मजबूरियों और उसकी सीमाओं से भी अच्छी तरह परिचित है अर्थात वह इनसान के गुण और दोष दोनों का भरपूर ज्ञान रखता है। उसकी शिक्षाएँ मर्द, औरत, जवान, बूढ़े, आलिम (विद्वान), जाहिल, शासक, शासित, अमीर, ग़रीब, मज़दूर, मालिक, बीमार, स्वस्थ, मुसाफ़िर और मुक़ीम (अपने स्थान पर निवास करनेवाला) सबके लिए हैं और सबके लिए रिआयतें और सुविधाएँ इसमें रखी गई हैं।

ज़िम्मेदारी और कर्त्तव्य का बोझ सामर्थ्य भर

इस्लाम में ज़िम्मेदारियों की बुनियाद सामर्थ्य पर है। जिस व्यक्ति के अन्दर जितनी शक्ति एवं क्षमता है उसपर उतनी ही ज़िम्मेदारी आती है। जो चीज़ उसकी ताक़त से बाहर है वह उसकी ज़िम्मेदारी से बाहर समझी गई है। क़ुरआन अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहता है—

> "अल्लाह किसी नफ़्स (मनुष्य) पर उसकी सामर्थ्य से बढ़कर ज़िम्मेदारी का बोझ नहीं डालता।"
>
> (क़ुरआन, 2:286)

किसी काम को कर पाने की ताक़त और कर पाने की सम्भावना में अन्तर है। एक व्यक्ति हो सकता है कि सौ-पचास किलो का बोझ अपनी पीठ पर लादकर पाँच-सात किलोमीटर चला जाए, परन्तु यह तभी सम्भव होगा जबकि वह अपनी पूरी शक्ति लगा दे। बहुत मुमकिन है कि इससे उसकी कमर टूट जाए और वह फिर बोझ उठाने के क़ाबिल ही न रहे। इसे काम करने की सामर्थ्य नहीं कहा जा सकता। सामर्थ्य यह है कि आदमी किसी काम को आसानी से कर सके और उसे करने में उसे असाधारण परिश्रम एवं कष्ट न झेलना पड़े। क़ुरआन में है—

> "अल्लाह ने तुम्हारे लिए दीन में कोई तंगी नहीं रखी है।"
>
> (क़ुरआन, 22:78)

मतलब यह है कि शरीअत में ऐसी तंगी या कष्ट नहीं है कि उसपर अमल न हो सके। अतः जब किसी के लिए कोई अमल अत्यन्त कष्टदायक हो जाता है तो तंगी (कष्ट) को दूर करना ज़रूरी है। अल्लाह के रसूल मुहम्मद *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "मुझे दीने-हनीफ़ (विशुद्ध धर्म) देकर भेजा गया है जिसमें सहूलत और आसानी है।" (हदीस : मुस्नद अहमद)

क़ुरआन में तक़्वा (ईशभय) का हुक्म दिया गया है, इसी के साथ यह भी कहा गया है—

> "अल्लाह से डरो जितनी कि तुम्हारी शक्ति-सामर्थ्य है।"
>
> (क़ुरआन, 64:16)

मुहम्मद (सल्ल०) का कथन है—

> "जब मैं तुम्हें किसी चीज़ का हुक्म दूँ तो अपनी सामर्थ्य भर उसपर अमल करो और जब किसी चीज़ से मना करूँ तो उससे परे रहो।" (हदीस : मुस्लिम)

पूरी शरीअत की बुनियाद इसी सामर्थ्य और अदमे-हरज (कष्ट से इतर) पर रखी गई है। यही उसूल कमज़ोर के सिलसिले में भी लागू है। इस्लाम ने बीमारी, शारीरिक निर्बलता, अपंगता, सफ़र की कठिनाइयों और आर्थिक परेशानियों की अपने सभी आदेशों में पूरी-पूरी रिआयत की है और जिस काम को जिस हद तक इनसान कर सके उतनी ही उसपर ज़िम्मेदारी भी डाली है। जहाँ जो आदेश उसकी शक्ति और सामर्थ्य से बाहर हो उससे उसे अलग रखा है। शरीअत के इस उसूल को अल्लामा इब्ने-हज़म *(रह०)* ने इन शब्दों में बयान किया है—

> "हर वह फ़र्ज़ (अनिवार्य आदेश) जिसका अल्लाह ने इनसान को पाबन्द बनाया है यदि उसे पूरा करने की उसमें ताक़त है तो वह पूरा का पूरा उसपर अनिवार्य होगा। यदि वह उससे पूर्णतः असमर्थ है तो वह फ़र्ज़ भी पूर्णतः उसके ऊपर से ख़त्म हो जाएगा। परन्तु यदि उसका एक हिस्सा अदा कर सकता है और एक हिस्सा अदा नहीं कर सकता तो जितना हिस्सा उससे अदा नहीं हो सकता वह उससे माफ़ हो जाएगा और जो हिस्सा अदा कर सकता है उसका अदा करना उसपर अनिवार्य होगा। चाहे वह थोड़ा हो या ज़्यादा।" (अल-मुहल्ला 1/69)

इबादतों में कमज़ोर की रिआयत

शरीअत का यह उसूल नमाज़-रोज़ा जैसी इबादतों के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में दिए गए आदेशों और निर्देशों में भी देखने को मिलता है। इस्लाम में बुनियादी आस्थाओं के बाद इबादतों का स्थान है और उनमें भी नमाज़ की अहमियत दूसरी इबादतों से ज़्यादा है। नमाज़ के लिए पाक-साफ़ और पवित्र होना शर्त है। इसके लिए वुज़ू और ग़ुस्ल (स्नान) के निर्देश हैं। परन्तु यदि आदमी वुज़ू या ग़ुस्ल न कर सके या पानी उपलब्ध न हो तो इसके विकल्प के रूप में 'तयम्मुम' (मिट्टी से पाकी हासिल करने) का हुक्म है, और

तयम्मुम की विधि भी अत्यन्त सरल बताई गई है। नमाज़ में आदमी थोड़ी देर ख़ुदा के दरबार में खड़ा होता है, फिर क्रमशः रुकू और सज्दा करता है। अन्त में अदब के साथ बैठकर अल्लाह की बड़ाई और तारीफ़ बयान करता है। यह अन्य धर्मों की उपासना-साधना से अपेक्षाकृत आसान अमल है। इसके बावजूद जो व्यक्ति खड़ा होकर नमाज़ न पढ़ सके, उसे बैठकर पढ़ने की इजाज़त है यदि बैठ कर भी पढ़ने में असमर्थ है तो लेटकर और यह भी सम्भव न हो तो केवल इशारों से यह फ़र्ज़ अदा कर सकता है। नमाज़, पाँच निर्धारित समयों में फ़र्ज़ है। आदमी इन वक़्तों में सोता रह जाए या भूल जाए तो जब जागे या जब याद आए यह फ़र्ज़ अदा कर ले। हाँ, जानबूझ कर कोताही करना जाइज़ नहीं। फ़र्ज़ नमाज़ें मस्जिद में इमाम के पीछे अदा की जाती हैं। इमाम को निर्देश दिया गया है कि वह कमज़ोरों की रिआयत करे। अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

> "जो व्यक्ति किसी जमाअत की इमामत करे तो हल्की और संक्षिप्त नमाज़ पढ़ाए, इसलिए कि जमाअत में बूढ़े, मरीज़, ज़रूरतमन्द हर तरह के लोग होते हैं।" (हदीस : मुस्लिम)

रोज़े या व्रत रखने की शिक्षा हर धर्म में मौजूद है। लगातार कई-कई दिन के व्रत का भी रिवाज है, परन्तु इस्लाम ने कहा कि रोज़ा केवल सूर्योदय से सूर्यास्त के मध्य होगा, इससे ज़्यादा नहीं। और इस विधि से अधिकतम एक महीने का रोज़ा होगा, जीवन भर का नहीं। इसके बावजूद जो व्यक्ति बीमार है या सफ़र में है, जो औरत गर्भवती है या शिशु को दूध पिलानेवाली है, उन्हें इजाज़त है कि वे अन्य दिनों में इस रोज़े की पूर्ति कर लें। जो व्यक्ति निर्बलता और बुढ़ापे के कारण बाद में भी रोज़ा न रख सके तो किसी ग़रीब को खाना खिला दे। यह उसका कफ़्फ़ारा (क्षतिपूर्ति) है। रोज़े के सम्बन्ध में दी गई रिआयतों को बयान करते हुए कहा गया है—

> "अल्लाह तुम्हारे साथ आसानी चाहता है, सख़्ती नहीं चाहता।"
> (क़ुरआन, 2:185)

ज़कात इस्लामी इबादतों का एक अहम अंग है। यह समाज की आर्थिक सहायता का एक अहम ज़रीआ है। परन्तु ज़कात ऐसे लोगों पर

ही फ़र्ज़ है जो एक निश्चित मात्रा में धन-दौलत रखते हों। जिनके पास उतनी दौलत नहीं है उन्हें इस्लाम ने ज़कात देने से अलग रखा है। यह इस प्रकार का मज़हबी टैक्स नहीं है जो हर व्यक्ति को चाहे-अनचाहे देना ही पड़े।

हज भी इस्लाम की एक अहम इबादत है जिसमें आदमी मक्का पहुँचकर रूहानी तरक़्क़ी हासिल करता है। इसके लिए भी सामर्थ्य-शक्ति शर्त है। यदि सामर्थ्य नहीं है तो हज फ़र्ज़ नहीं होगा। सामर्थ्य होने का अर्थ यह कि आदमी शारीरिक दृष्टि से भी और आर्थिक दृष्टि से भी इस लम्बे सफ़र और वहाँ की भागदौड़ के क़ाबिल हो। क़ुरआन में है–

> "अल्लाह के लिए लोगों पर बैतुल्लाह (काबा) का हज फ़र्ज़ है जो कि वहाँ तक पहुँचने की ताक़त रखता हो।" (क़ुरआन, 3:97)

आर्थिक ज़िम्मेदारी सामर्थ्य के अनुसार

ख़ानदानी व्यवस्था (पारिवारिक जीवन) में पुरुष पर आर्थिक ज़िम्मेदारियाँ डाली गई हैं। इन ज़िम्मेदारियों के सिलसिले में इस्लाम का उसूल यह है–

> "ख़ुशहाल अपनी ख़ुशहाली के अनुसार ख़र्च करे और जिसे रोज़ी (जीविका) कम दी गई हो वह उसी माल में से ख़र्च करे जो अल्लाह ने उसे दिया है। अल्लाह ने जिसको जितना कुछ दिया है उससे ज़्यादा का उसे वह ज़िम्मेदार नहीं बनाता। दूर नहीं कि अल्लाह तंगदस्ती (निर्धनता) के बाद ख़ुशहाली प्रदान कर दे।" (क़ुरआन, 65:7)

अपाहिज पर जिहाद फ़र्ज़ नहीं

इस्लाम में जिहाद की अवधारणा यह है कि इनसान अल्लाह के दीन (इस्लाम) के लिए आवश्यकतानुसार जान भी क़ुरबान करे और माल भी। परन्तु जो व्यक्ति अपाहिज है उससे जान लड़ाने का और जिसके पास माल नहीं है उससे माल ख़र्च करने का मुतालिबा (माँग) नहीं है। हाँ, जो व्यक्ति सामर्थ्य रखने के बावजूद पीछे रह जाए वह गुनाहगार होगा। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित आयतों से इस्लाम का स्वभाव समझा जा सकता है–

"न तो कमज़ोरों पर, न मरीज़ों पर और न उन लोगों पर कोई गुनाह है जिनके पास ख़र्च करने के लिए कुछ नहीं है। यदि वे अल्लाह और उसके रसूल के साथ भलाई का रवैया अपनाएँ तो (सच्चाई यह है कि) इस तरह के नेक लोगों पर कोई इलज़ाम नहीं है, और अल्लाह माफ़ करनेवाला और रहम करनेवाला है। और न उन लोगों पर कोई इलज़ाम है कि जब वे तुम्हारे पास इस दरख़ास्त के साथ आएँ कि तुम उन्हें सवारियाँ उपलब्ध कर दो तो तुमने उनसे कह दिया कि मैं तुम्हारे लिए सवारियों का प्रबन्ध नहीं कर सकता, तो वे इस ग़म में कि उनके पास अल्लाह की राह में ख़र्च करने के लिए कुछ नहीं है, इस तरह वापस हुए कि उनकी आँखों में आँसू बह रहे थे। इलज़ाम तो उन लोगों पर है जो दौलतमन्द होने के बावजूद तुमसे जिहाद में सम्मिलित न होने की इजाज़त चाहते हैं। वे ख़ुश हैं कि पीछे रह जानेवालों में वे भी रहें। अल्लाह ने उनके दिलों पर मुहर लगा दी है, परन्तु वे नहीं जानते।" (क़ुरआन, 9:91 से 93)

ब्र की नसीहत

कमज़ोरी शारीरिक हो या आर्थिक, बौद्धिक हो या राजनीतिक, स्लाम हर स्तर और हर स्थिति में उसपर सब्र (धैर्य) की शिक्षा देता है। स्लामी पारिभाषिक शब्द आज अपने निहितार्थ खो चुके हैं। लोगों ने जबूरी का नाम सब्र रख छोड़ा है। इसलिए सब्र का शब्द सुनते ही अमली (निष्क्रियता), पस्त-हिम्मती (हतोत्साह) और हालात के सामने थियार डाल देने और लाचार बैठ रहने का तसव्वुर उभरता है, हालांकि ब्र धैर्य एवं बुलन्द हौसले का नाम है। सब्र यह है कि आदमी हालात का जमकर मुक़ाबला करे और पराजित हो भी जाए तो हिम्मत न हारे और ताज़ादम होकर नए उत्साह के साथ अपने मक्सद की ओर बढ़े। ब्र फ़तह (विजय) और कामयाबी की कुँजी है। सब्र आदमी को नई ज़िन्दगी और नई ताक़त प्रदान करता है। सब्र किसी एक क्षेत्र में नहीं, ज़िन्दगी के हर क्षेत्र में अपेक्षित है। सब्र यह है कि आदमी ज़िन्दगी के उच्च मूल्यों और आदर्शों को अपनाए और उनके लिए लगातार त्याग करे। सब्र यह भी है कि आदमी मन की इच्छाओं, ख़ानदान के ग़लत

रिवाजों, समाज की बुरी रीतियों और नैतिक बुराइयों का मुक़ाबला करे और अपने चरित्र पर गन्दगी के छींटे न आने दे। सब्र यह भी है कि आदमी कठिनाइयों और मुश्किल घड़ियों में मज़बूती से उसूलों पर डटा रहे और कोई ऐसा क़दम न उठाए जो उसे बुलन्दी से नीचे उतार फेंके। सब्र यह भी है कि आदमी मुसीबतों और विपत्तियों में होशो-हवास न खो बैठे बल्कि अल्लाह के फैसले को ख़ुशदिली से बर्दाश्त करे। जब तक सब्र का गुण न हो आदमी वैचारिक, बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक या सामाजिक किसी भी पहलू से ऊपर नहीं उठ सकता। श्रेष्ठता एवं महानता इस दुनिया में सब्र करनेवालों को ही मिलती है।

क़ुरआन ने हर आज़माइश और इम्तिहान के अवसर पर सब्र की शिक्षा दी है और इसे दुनिया की कामयाबी के साथ आख़िरत की कामयाबी का भी ज़रीआ बताया है। इस सिलसिले की सभी क़ुरआनी शिक्षाएँ पेश करने की यहाँ ज़रूरत नहीं महसूस होती, केवल एक आयत पेश की जा रही हैं—

> "हम ज़रूर तुम्हें आज़माएँगे ख़ौफ़ (भय) से, भूख से, मालों, जानों और फलों के नुक़सान से। और सब्र करनेवालों को ख़ुशख़बरी सुना दो, जिनका हाल यह है कि जब कोई तकलीफ़ (कष्ट) उन्हें पहुँचती है तो कहते हैं, कि हम अल्लाह की ओर से हैं और हमें उसी की ओर पलट कर जाना है। उनपर उनके रब की इनायतें (पुरस्कार) हैं और रहमत (दयालुता) है, और यही हिदायत पाए हुए हैं।" (क़ुरआन, 2:155 से 157)

जिन लोगों का आख़िरत (परलोक) ही पर ईमान नहीं है, वे वहाँ की कामयाबी तथा इनाम पर भला क्या यक़ीन कर सकते हैं? वे इसे मात्र एक ऐसी झूठी तसल्ली समझेंगे, बल्कि वास्तव में समझते हैं, जो सीधे-सादे लोगों को बहलाने के लिए दी गई है। आख़िरत की वास्तविकता अथवा सम्भावना से यहाँ बहस नहीं है, केवल एक पहलू की ओर इशारा करना है। वह यह कि आख़िरत की भलाई और कामयाबी की अवधारणा इनसान को महरूमी (वंचित होने) के एहसास से बचाती है। जिस व्यक्ति को आख़िरत पर यक़ीन हो वह कभी दुखी, उदास और निराश नहीं

वह बड़े-से-बड़े नुक़सान को भी बेहतर बदले और सवाब की
: पर ख़ुशी-ख़ुशी बर्दाश्त कर सकता है। अन्यथा इस दुनिया में,
हतोत्साहित करनेवाले हालात और दिलोदिमाग़ को हिलाकर रख
ते सदमों का सामना करना पड़ता है, इनसान साबित क़दम (दृढ़
) नहीं रह सकता। एक व्यक्ति जो अन्धा हो चुका हो उसके लिए
की सारी रौनकें बेकार हैं। परन्तु यदि वह इस यक़ीन के साथ
का फ़ैसला करे कि आज वह जिस नेमत (देखने के सुख) से वंचित
त न केवल यह कि वह नेमत उसे मिलेगी बल्कि बेहतरीन अज्र व
से भी उसे नवाज़ा जाएगा तो उस महरूमी (वंचित होने) में भी वह
और सन्तुष्टि का अनुभव करेगा और साहस के साथ जीवन के
में अपना योगदान दे सकेगा। एक व्यक्ति जिसका नौजवान और
ता बेटा किसी दुर्घटना का शिकार हो गया हो उसके लिए इस भरी
में कोई आकर्षण नहीं। हाँ, यदि वह यह सोचकर ज़िन्दगी गुज़ारे
स सदमे का सिला उसे जन्नत के रूप में मिलनेवाला है और वहाँ
बेटा भी उसे मिल जाएगा तो इस नुक़सान में भी उसे नफ़े का
स होगा। आख़िरत पर ईमान और यक़ीन यही सोच इनसान के
पैदा करता है।[1]



इस विषय पर विस्तार के लिए देखें लेखक की एक अन्य पुस्तक "इस्लाम और
मुशकिलाते-हयात" (उर्दू)

कमज़ोर की ज़ुल्म[1] से हिफ़ाज़त

ज़ुल्म के लिए दुनिया में कोई स्थान नहीं होना चाहिए— उसक औचित्य भी नहीं है। यदि किसी एक व्यक्ति पर भी ज़ुल्म हो त दुनिया का सिर शर्म से झुक जाना चाहिए। परन्तु यहाँ व्यक्तियों नहीं बल्कि बड़ी-बड़ी जमाअतों और समूहों पर ज़ुल्म और अत्याच पहाड़ तोड़े जाते हैं। इससे न तो अतीत का दामन पाक था ः वर्तमान का दामन पाक है। ज़ुल्म का निशाना कमज़ोर ही बनता है दुनिया का इतिहास है, और बड़ा ही दर्दनाक इतिहास है कि व्यक्ति भी और समूहों ने भी अपने से कमज़ोर लोगों और समूहों के जा और इज़्ज़त-आबरू को लूटा है। उनपर इतने ज़ुल्म ढाए हैं कि कल्पना से ही रूह काँप जाती है। आज भी यह सब कुछ जारी है।

इस्लाम से पूर्व अरब में कमज़ोरों की हालत

इस्लाम जिस समाज में आया उसमें कमज़ोर व्यक्ति और समूह ही घोर अत्याचार के शिकार थे। ग़ुलामों (दासों) और महकूमों (अ लोगों) पर उनके मालिक और स्वामी सितम ढा रहे थे। औरतों प अत्याचार कर रहे थे, यतीमों और अनाथों के अधिकार ख़ुद तथाकथित अभिभावक छीन रहे थे, वतन से दूर अजनबियों और मुसाफ़ि

1. ज़ुल्म (अत्याचार) की परिभाषा उलमा (विद्वानों) ने इस प्रकार की है कि चीज़ को उसके सही स्थान से हटा दिया जाए। इसकी सूरत यह है कि उसमें क अथवा उसके वक़्त और जगह में तब्दीली कर दी जाए। ज़ाहिर है इससे उसकी और उसकी उपयोगिता में अन्तर आ जाता है। ज़ुल्म की तीन क़िस्में हैं। एक ज़ वह है जो अल्लाह के प्रति इनसान करता है। ऐसे ही ज़ुल्मों की कोटि में कुफ़्र (का इनकार), शिर्क (अल्लाह का साझीदार ठहराना) और निफ़ाक़ (ऊपरी त अल्लाह का इक़रार) हैं। ज़ुल्म की दूसरी सूरत वह है जो एक इनसान दूसरे इन करता है। ज़ुल्म की तीसरी सूरत यह है कि इनसान स्वयं अपने ऊपर ज़ुल हक़ीक़त यह है कि तीनों प्रकार के ज़ुल्म एक दृष्टि से स्वयं अपने ही साथ ज़ पवित्र क़ुरआन में इन तीनों प्रकार के ज़ुल्म का उल्लेख है। यहाँ मूलतः इनस इनसानों की ओर से होनेवाला ज़ुल्म चर्चा का विषय है।

क़्त जान-माल का .ख़तरा रहता था। निर्बलों, अपाहिजों और मजबूर ायों का कोई हाल भी पूछनेवाला नहीं था। ज़ुल्म की चक्की चारों पूरी शक्ति से चल रही थी और कमज़ोर व बेबस इनसान उसमें बुरी पिस रहे थे। इन हालात का चित्रण क़ुरआन ने इस प्रकार ा है—

> "हरगिज़ नहीं! तुम यतीम के साथ इज़्ज़त का सुलूक नहीं करते हो और मिस्कीन (ग़रीब लोगों) को खाना खिलाने पर एक-दूसरे को नहीं उभारते हो। मीरास का सारा माल ख़ुद समेटकर खा जाते हो और माल से बेहद मुहब्बत करते हो।"
>
> (क़ुरआन, 89:17-20)

हब्शा की हिजरत (हब्शा प्रवास) के बाद हज़रत जाफ़र तय्यार ़) ने हब्शा के सम्राट नज्जाशी के दरबार में जो अद्वितीय भाषण था उसमें भी उस समाज का बेहतरीन नक्शा खींचा गया है। उन्होंने —

> "ऐ बादशाह! हम ऐसी क़ौम थे जो जाहिलियत (अज्ञानता) में पड़ी हुई थी। बुतों को पूजते थे, मरे हुए जानवर खाते थे, अश्लील कर्म करते थे, .ख़ूनी रिश्तों को काट देते थे। पड़ोसियों के साथ बुरा व्यवहार करते थे। (कहने का मतलब यह कि) हममें जो शक्तिशाली था वह कमज़ोर को खा रहा था।"

ाम ने कमज़ोरों के साथ अच्छे व्यवहार की शिक्षा दी

इसके बाद हज़रत जाफ़र (रज़ि॰) ने अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ाबी और रसूल बनाए जाने का और आप (सल्ल॰) की शिक्षाओं का ाय इस प्रकार पेश किया—

> "यह थी हमारी हालत। इस हालत में अल्लाह ने हमारे पास हम ही में से एक रसूल भेजा। हम उसके उच्च कुल, सच्चाई, अमानतदारी और पाक दामनी (सच्चरित्रता) से अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं। उसने हमें अल्लाह की ओर बुलाया और बताया कि हम उसे एक मानें और उसकी इबादत करें। हम और हमारे बाप-दादा जिन पत्थरों और बुतों की इबादत करते हैं उनसे अलग हो जाएँ। उसने हमें हुक्म दिया कि सत्य बोलें, अमानत

अदा करें, रिश्तेदारों के हक़ अदा करें, पड़ोसियों के साथ अच्छा व्यवहार करें। हराम कामों से बचें और .खून न बहाएँ। उसने हमें बेहयाई (निर्लज्जता) के कामों से, झूठ बोलने, यतीम का माल खाने और पाकदामन औरतों पर मिथ्यारोपण करने से मना किया। उसने हमसे कहा कि हम केवल एक अल्लाह की इबादत करें, उसके साथ किसी चीज़ को साझीदार न बनाएँ। उसने नमाज़, रोज़ा और सदक़ा व .खैरात (दान देने) का हुक्म दिया।"

(हदीस : मुसनद अहमद)

यह है इस्लाम की तस्वीर जो उसके शुरुआती दौर के एक अ
और प्रचारक ने एक बादशाह के सामने पेश की। इसमें इस हक़ीक़
इज़हार है कि इस्लाम एक अल्लाह की इबादत, शिर्क और बुतपरस
बचने और श्रेष्ठ नैतिक मूल्यों पर अमल की दावत देता है। वह क
के साथ हमदर्दी का रवैया अपनाने और उनके अधिकार पहचान
हिदायतें लेकर आया है और ज़ुल्म तथा अत्याचार की सभी राहें
करना चाहता है।

अल्लाह किसी पर ज़ुल्म नहीं करता

ज़ुल्म और अत्याचार के उन्मूलन के लिए इस्लाम ने उसकी .ख
स्पष्ट की, उससे नफ़रत की भावना उभारी और उसके ख़िलाफ़ हर
ऐसा वातावरण बनाया कि ज़ुल्म करने से पहले आदमी हज़ार बार स
पर मजबूर हो जाए कि समाज उसे सहन करेगा भी या नहीं? इस्ल
सबसे पहले तो यह एहसास पैदा किया और उसे ज़िन्दा रखा कि इन
को एक-दूसरे के साथ वह उच्च नैतिक रवैया अपनाना चाहिए जो
कायनात के ख़ालिक़ (रचयिता) व मालिक को पसन्द है। वह न
करता है और न ज़ुल्म को पसन्द करता है। क़ुरआन में यह बात बा
दोहराई गई है कि अल्लाह ज़ुल्म से पाक है। वह कभी किसी के
किसी तरह का ज़ुल्म नहीं करता। एक जगह कहा गया है—

"बेशक अल्लाह ज़र्रा बराबर (नाममात्र को) ज़ुल्म नहीं करता।"

(क़ुरआन, 4:40)

़रआन में एक और जगह फ़रमाया—

"यक़ीनन अल्लाह लोगों पर कुछ भी ज़ुल्म नहीं करता।"

(क़ुरआन, 10:44)

ाह ज़ुल्म को नापसन्द करता है

ही गुण वह अपने बन्दों के अन्दर भी देखना चाहता है। वह इस ो सख़्त नापसन्द करता है कि उसके बन्दे ज़ुल्म और नाइनसाफ़ी ते पर चलें और उनके बीच ज़ुल्मो-सितम का बाज़ार गर्म रहे। न की दो आयतों के अन्तिम वाक्यों पर नज़र डालिए—

ौर ज़ुल्म-ज़्यादती न करो। बेशक अल्लाह ज़ुल्म-ज़्यादती करनेवालों ो पसन्द नहीं करता।" (क़ुरआन, 5:87)

ौर अल्लाह ज़ुल्म करनेवालों को पसन्द नहीं करता।"

(क़ुरआन, 3:140)

़क हदीस में भी यही बात बड़े प्रभावी ढंग से कही गई है—

"(अल्लाह कहता है) ऐ मेरे बन्दो! मैंने स्वयं पर ज़ुल्म को हराम क़रार दे रखा है और तुम्हारे बीच भी इसे हराम ठहराया है, अतः तुम एक-दूसरे पर ज़ुल्म न करो।" (हदीस : मुस्लिम)

़क और हदीस में है कि मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

"अल्लाह ने मुझपर वह्य की है कि तुम लोग इस हद तक सादगी और विनम्रता अपनाओ कि न तो कोई किसी के मुक़ाबले में घमन्ड करे और न कोई किसी पर ज़्यादती करे।"

(हदीस : मुस्लिम)

करनेवालों की निन्दा

़रआन ने जिन पहलुओं से यहूदियों की आलोचना की है, उनमें हलू यह भी है कि वे ज़ुल्म और अत्याचार का रवैया अपनाए हुए : नाजाइज़ और हराम तरीक़ों से पेट भरते हैं। फ़रमाया—

"और ऐ मुहम्मद तुम इनमें से बहुत-सों को देखोगे कि वे गुनाह, और अत्याचार और हराम माल खाने पर ख़ूब लपकते हैं।" (क़ुरआन, 5:62)

ताक़तवर कमज़ोर पर ज़ुल्म न करे

माल-दौलत और ताक़त-शक्ति पाकर ओछा इनसान सरकश जाता है। दूसरों को दबाने और ग़ुलाम बनाने के लिए अपनी त इस्तेमाल करने लगता है। हालाँकि जो शक्ति और सामर्थ्यवाला है उस यह अपेक्षा की जा सकती है, और वास्तव में वही इस हैसियत में हो कि अल्लाह के बन्दों पर रहम करे और बेबसों और लाचारों की मदद आगे आए। यह बात शिष्टाचार, नैतिकता और शराफ़त से बहुत दूर कष्टदायक है कि जहाँ से भलाई पैदा होनी चाहिए वहाँ से बुराई ख़राबी पैदा हो जिससे लाभ की उम्मीद हो उससे हानि पहुँचे। एक में है कि अल्लाह तीन लोगों को सख़्त नापसन्द करता है और नफ़रत करता है। एक वह जो बुढ़ापे में बदकारी (व्यभिचार) करे, वह जो ग़रीबी और मोहताजी के बावजूद घमण्ड करे, तीसरा वह दौलत पाकर ज़ुल्म-ज़्यादती पर उतर आए। (हदीस : तिर्मि

अल्लाह का कोई फ़ैसला हिक्मत और मस्लहत से ख़ाली नहीं है कभी-कभी ग़रीबी में उसकी ओर से चेतावनी होती है। वह चाहता है इनसान को अपनी ग़लतियों का एहसास हो। उसके अन्दर पश्चाताप भावना उभरे और वह घमण्ड को छोड़कर पूरे मनोयोग से उसकी पलटे। अल्लाह को यह बात बहुत बुरी लगती है कि इनसान चेतावनी से फ़ायदा न उठाए और अपनी दुनिया में खोया रहे। इसी दौलत भी एक इम्तिहान है। इससे इनसान की ज़िम्मेदारियाँ बढ़ जाती जो व्यक्ति इन ज़िम्मेदारियों को न समझे और माल-दौलत के सहारे पर ज़ुल्म करे वह ख़ुदा के ग़ज़ब (क्रोध) को दावत देता है।

इस हदीस का एक ख़ास पहलू यह भी है कि इसमें ग़रीब से गया है कि घमण्ड और अभिमान उसे शोभा नहीं देता और अमीर हिदायत दी गई कि उसका दामन ज़ुल्म और अत्याचार से पाक चाहिए। इस प्रकार इस्लाम अमीर और ग़रीब दोनों ही का सुधार एक विशेष दिशा में उनका प्रशिक्षण चाहता है।

म की बददुआ (शाप) से बचो

ऻसी बेगुनाह पर सितम ढाना और उसके वैध अधिकारों से उसे रखना ख़ुदा के ग़ज़ब (क्रोध) को दावत देना है। अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

"मज़लूम की आह से बचो। इसलिए कि जब वह फ़रियाद करता है तो उसकी फ़रियाद तुरन्त सुनी जाती है और उसकी स्वीकृति की राह में कोई चीज़ रुकावट नहीं बनती।"

ज़रत मआज़-बिन-जबल *(रज़ि.)* को नबी *(सल्ल.)* ने यमन का गवर्नर किया तो नसीहत फ़रमाई—

"मज़लूम की बददुआ से बचो, इसलिए कि उसके और अल्लाह के बीच कोई हिजाब (पर्दा) नहीं है।" (हदीस : बुख़ारी)

ज़रत अली *(रज़ि.)* बयान करते हैं कि नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया

"मज़लूम की बददुआ से बचो, इसलिए कि वह अल्लाह से अपना हक़ माँगता है और अल्लाह किसी हक़दार का हक़ नहीं रोकता।" (हदीस : मिशकात)

किसी बुरे से बुरे इनसान, अधर्मी और काफ़िर (इनकारी) पर भी करने का कोई औचित्य नहीं है। अल्लाह के यहाँ उसकी फ़रियाद जाएगी और ज़ालिम उसकी पकड़ से बच न सकेगा। अतः हदीस में

"मज़लूम की दुआ सुनी जाती है चाहे वह बुरा इनसान ही क्यों न हो, उसके ग़लत कामों का सम्बन्ध उसके निज से है, वह उसकी सज़ा पाएगा।" (हदीस : अहमद)

एक और हदीस में है,

"मज़लूम की अल्लाह से की गई आह और फ़रियाद से बचो, चाहे वह काफ़िर ही क्यों न हो, इसलिए कि उसकी स्वीकृति की राह में कोई रुकावट नहीं है।" (हदीस : अहमद)

ह़ज़रत अबू-हुरैरा *(रज़ि.)* अल्लाह के नबी मुहम्मद *(सल्ल.)* से रिवायत हैं:

"तीन लोगों की दुआ (ख़ुदा के दरबार से) रद्द नहीं होती। रोज़ेदार की दुआ जब वह (दिनभर के रोज़े के बाद) इफ़्तार के

समय दुआ करता है। न्यायप्रिय इमाम (ख़लीफ़ा/बादशाह) की दुआ, और मज़लूम की दुआ को तो अल्लाह बादल के ऊपर उठा ले जाता है। उसके लिए आसमान के दरवाज़े खोल दिए जाते हैं और अल्लाह फ़रमाता है कि मेरी इज़्ज़त व जलाल (सम्मान और महानता) की क़सम! मैं तेरी ज़रूर मदद करूँगा कुछ समय बाद ही सही।" (हदीस : तिरमिज़ी)

ज़ालिम को ताक़त के नशे में यह न समझना चाहिए कि मज़ बेसहारा और असहाय है। मज़लूम के साथ अल्लाह होता है। उ फ़रियाद और दुहाई सीधे सर्वोच्च आसमान में अल्लाह के दरबा पहुँचती है और ज़ालिम किसी भी समय अल्लाह के ग़ज़ब (क्रोध) निशाना बन सकता है।

ज़ुल्म का अंजाम दुनिया में

क़ुरआन और हदीस में बार-बार समझाया गया और चेतावनी दी है कि इस दुनिया में जब भी ज़ुल्म और अत्याचार का रवैया अप गया और ताक़त के नशे में इस हक़ीक़त को भुला दिया गया कि कायनात बेख़ुदा के नहीं है, बल्कि इसका एक मालिक (स्वामी) हाकिम (शासक) भी है जो ज़ुल्म को पसन्द नहीं करता और ज़ालिम पंजा मोड़ सकता है, तो बड़े भयानक और दर्दनाक नतीजे देखने पड़े है

हज़रत अबू-मूसा अशअरी *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्लाह रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

"अल्लाह ज़ालिम (की रस्सी) को ढील देता है, और जब पकड़ता है तो वह बचकर निकल नहीं पाता।"

(हदीस : बुख़ारी)

इसके बाद नबी *(सल्ल.)* ने क़ुरआन की यह आयत पढ़ी—

"और इसी प्रकार तेरे रब की पकड़ थी जबकि उसने उन बस्तियों को पकड़ा जो ज़ुल्म कर रही थीं, बेशक उसकी पकड़ दर्दनाक और सख़्त होती है।" (क़ुरआन, 11:6)

एक और हदीस में है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमायाः

"किसी पर ज़ुल्म करना और .ख़ूनी रिश्ते काटना (सम्बन्ध-विच्छेद करना) ये दो ऐसे गुनाह हैं कि कोई दूसरा गुनाह उनसे

ज़्यादा इसका हक़दार नहीं है कि उसे करनेवाले को अल्लाह जल्द इसी दुनिया ही में सज़ा दे, उस अज़ाब के अतिरिक्त जो उसने आख़िरत में उनके लिए रखा है।" (हदीस : अबू-दाऊद)

यदि इनसान ख़ुदा के क़ानून को न समझे और अतीत की घटनाओं से शिक्षा न ले तो वह दूसरों के लिए शिक्षा-सामग्री बन जाता है। जो व्यक्ति ज़ालिमों की पंक्ति में खड़ा होना चाहे उसे उस बुरे अंजाम से कोई चीज़ बचा नहीं सकती जो ज़ालिमों की हमेशा से नियति रही है।

ज़ुल्म का अंजाम आख़िरत में

यह तो है ज़ुल्म का अंजाम दुनिया में। आख़िरत में ज़ालिमों की जो दुर्गति होगी क़ुरआन और हदीस में उसका बड़ा दर्दनाक चित्रण हुआ है। क़ुरआन में अल्लाह ने कहा है—

"तुम यह न समझो कि ये ज़ालिम जो कुछ कर रहे हैं अल्लाह उससे ग़ाफ़िल है। वह उन्हें उस दिन तक के लिए मोहलत (छूट) दे रहा है जबकि (उनकी) आँखें फटी-की-फटी रह जाएँगी। लोग सिर झुकाए दौड़ रहे होंगे। नज़रें (ऊपर जमी होंगी) और वे उनकी ओर नहीं पलटेंगी और दिल उड़ रहे होंगे। उन्हें उस दिन से डराओ जबकि (सचमुच) उनपर ख़ुदा का अज़ाब आ जाएगा। उस वक़्त ज़ालिम कहेंगे, ऐ हमारे रब! हमें थोड़ी-सी मोहलत और दे दे, हम तेरी दावत (आह्वान) का स्वागत करते हुए आगे बढ़ेंगे और तेरे रसूलों का अनुसरण करेंगे। (उनसे कहा जाएगा) क्या तुमने इससे पहले क़सम खाकर नहीं कहा था कि तुमपर ज़वाल नहीं आएगा (अर्थात विनाश-पतन की घड़ी नहीं आएगी)। हालाँकि तुम उन लोगों की बस्तियों में रह चुके थे जिन्होंने अपने साथ ज़ुल्म-ज़्यादती की और तुमपर (यह भी) अच्छी तरह स्पष्ट था कि हमने उनके साथ क्या सुलूक किया। हमने मिसालें देकर तुम्हें समझाया था।" (क़ुरआन, 14 : 42-45)

'ज़ुल्म' शब्द में ज़ुलमत अर्थात अन्धकार का अर्थ है। अतः अल्लाह के रसूल मुहम्मद *(सल्ल.)* ने ज़ुल्म को अन्धेरों के अर्थ में व्यक्त किया है।

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अब्बास *(रज़ि.)* की रिवायत है कि नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया–

> "ज़ुल्म क़ियामत के दिन तारीकियाँ (अन्धकार) होगा।"
>
> (हदीस : बुख़ारी)

मतलब यह कि क़ियामत के दिन ज़ालिम के चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार होगा और वह उस प्रकाश से वंचित रहेगा जो स्वर्ग (जन्नत) तक पहुँचाता है।

इसी भावार्थ की एक और हदीस हज़रत जाबिर-बिन-अब्दुल्लाह *(रज़ि.)* से उद्धृत है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया–

> "ज़ुल्म से बचो, इसलिए कि ज़ुल्म क़ियामत के दिन ज़ुलमत (अन्धकार) बनकर आएगा। कंजूसी से बचो इसलिए कि कंजूसी (कृपणता) ने तुमसे पहले के लोगों को हलाक किया है। इसने इन्हें इसपर उभारा कि अपने लोगों का ख़ून बहाएँ और अल्लाह के क़ायम किए हुए प्रतिबन्धों को तोड़ें।"
>
> (हदीस : मुस्लिम)

इस हदीस में ज़ुल्म से मना करने के साथ कंजूसी और कृपणता से भी मना किया गया है। दोनों में बड़ा गहरा सम्बन्ध है। ज़ुल्म का एक पहलू यह भी है कि आदमी माल पर साँप बनकर बैठ जाए और हक़दारों का हक़ अदा न करे। इसके बड़े भयानक परिणाम होते हैं। जब लोगों के अधिकार छीने जाते हैं और उनकी वैध माँगें पूरी नहीं की जातीं तो समाज में अनिवार्यतः तनाव और असन्तोष पैदा होता है। इससे सारा समाज धीरे-धीरे दंगा-फ़साद, हत्या और लूटपाट की लपेट में इस प्रकार आ जाता है कि उससे निकलना मुश्किल हो जाता है। उपरोक्त हदीस का मक़सद यह है अल्लाह ने किसी को माल दिया है तो वह ज़ुल्म और अत्याचार की राह न अपनाए और हक़दार का हक़ अदा करे, वरना वह स्वयं भी तबाह होगा और समाज भी विनाश के कगार पर पहुँच जाएगा। कितनी बड़ी हक़ीक़त है जो इस हदीस में बयान हुई है।

आख़िरत में ज़ुल्म माफ़ न होगा

हदीस में आता है कि इनसानों के साथ ज़ुल्म और अत्याचार वह अपराध है जो क़ियामत के दिन माफ़ नहीं होगा। अल्लाह ज़ालिम से बदला लेगा और मज़लूम को उसका हक़ दिलवाएगा। इसलिए ज़ालिम को अपने ज़ुल्म का प्रायश्चित और क्षतिपूर्ति इसी दुनिया में कर लेनी चाहिए।

हज़रत आइशा *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "(ज़ुल्म के) रजिस्टर तीन प्रकार के होंगे। एक रजिस्टर वह होगा जिसे अल्लाह बिल्कुल माफ़ नहीं करेगा। दूसरा रजिस्टर वह होगा जिसकी अल्लाह के नज़दीक अहमियत न होगी, वह चाहेगा तो उसे माफ़ कर देगा। तीसरा रजिस्टर वह होगा जिसका अल्लाह ज़रूर बदला लेगा। जिस ज़ुल्म को अल्लाह माफ़ नहीं करेगा, वह शिर्क है। अतः उसने स्वयं क़ुरआन में फ़रमाया है कि जो व्यक्ति अल्लाह के साथ किसी को उसका समकक्ष ठहराए तो अल्लाह उसपर जन्नत हराम कर देगा। जिस ज़ुल्म को अल्लाह क्षमा कर देगा, वह वह है जो बन्दे अल्लाह के प्रति करते हैं— जैसे किसी ने कोई रोज़ा छोड़ दिया, या किसी वक़्त की नमाज़ नहीं पढ़ी। अल्लाह इसे (ज़ुल्म को) नज़रअन्दाज़ कर देगा। वह ज़ुल्म जिसका अल्लाह ज़रूर हिसाब लेगा और इनसाफ़ फ़रमाएगा, वह वह है जो बन्दे एक-दूसरे पर करते हैं। इसका क़िसास (क्षतिपूर्ति) लिए बग़ैर वह नहीं छोड़ेगा। ज़ालिम से बदला लेगा और मज़लूम को उसका हक़ दिलवाएगा।" (हदीस : मुस्नद अहमद)

हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने एक बार सहाबा से पूछा, "जानते हो मुफ़लिस (ग़रीब) कौन है?" सहाबा ने अर्ज़ किया, "मुफ़लिस वह है जिसके पास दिरहम, दीनार और माल-दौलत न हो।" आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "यह नहीं।"

> "मेरी उम्मत में (वास्तविक) मुफ़लिस और कंगाल वह व्यक्ति है जो क़ियामत के दिन नमाज़, रोज़ा, ज़कात (सब कुछ) लेकर

आएगा परन्तु उसके साथ उसने किसी को बुरा-भला कहा होगा, किसी का माल खाया होगा, किसी का .ख़ून बहाया होगा, किसी को मारा होगा, (इस प्रकार दूसरों का हक़ छीना होगा।) अल्लाह इसकी कुछ नेकियाँ उनमें से एक को और कुछ दूसरे को दे देगा। उनका हिसाब (पूरा) होने से पहले यदि इसकी नेकियाँ .ख़त्म हो जाएँगी तो उसके गुनाह इसके सिर डाल दिए जाएँगे और इसे जहन्नम (नरक) में फेंक दिया जाएगा।"

(हदीस : मुस्लिम)

ज़ालिम अपने ज़ुल्म का दुनिया में प्रायश्चित कर ले

हज़रत अबू-हुरैरा *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

"यदि किसी ने अपने भाई को बदनाम और अपमानित किया है, उसके माल-दौलत या और किसी चीज़ पर हाथ डाला है, तात्पर्य यह कि किसी के साथ कोई भी ज़ुल्म किया है तो दुनिया ही में उसे माफ़ करा ले और उसकी क्षतिपूर्ति कर दे, वरना क़ियामत के दिन जबकि दीनार-दिरहम न होंगे कि किसी को उनके ज़रीए .ख़ुश किया जा सके, तो ज़ालिम के नेक काम (अर्थात् उनका पुण्य) उसके ज़ुल्म के अनुपात में मज़लूम को दे दिए जाएँगे। जब उसका नामा-ए-आमाल (कर्म-पत्र) नेकियों से .ख़ाली हो जाएगा और फिर भी मज़लूम का हक़ बाक़ी रहेगा, तो मज़लूम के गुनाह ज़ालिम के खाते में डाल दिए जाएँगे।"

(हदीस : बुख़ारी)

क़ुरआन और हदीस से यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि जो व्यक्ति अल्लाह की नाफ़रमानी करे तो उसे उससे तौबा अवश्य करनी चाहिए। यदि इस नाफ़रमानी से किसी बन्दे को नुक़सान पहुँचा है तो तौबा के साथ उसका प्रायश्चित या क्षतिपूर्ति भी ज़रूरी है (इसका तरीक़ा यह होगा कि सम्बन्धित व्यक्ति से क्षमा माँगे, कुछ ले-देकर उसे ख़ुश करे और इस काम की पुनरावृत्ति न हो इसका दृढ़ निश्चय करे)। किसी को कष्ट पहुँचाने, उसका हक़ मारने, उसका माल खाने या उसके साथ किसी भी प्रकार की ज़्यादती के बाद मात्र अल्लाह से तौबा काफ़ी नहीं है, उस

नुक़सान की भरपाई भी करनी होगी जो दूसरे को पहुँचा है। इमाम नव्वी *(रह.)* लिखते हैं—

"उलमा (विद्वानों) ने कहा है कि हर गुनाह से तौबा करना वाजिब (अनिवार्य) है। यदि गुनाह का सम्बन्ध ख़ुदा और बन्दे से है और किसी इनसान का हक़ बर्बाद नहीं हुआ है तो तौबा की तीन शर्तें हैं। एक यह कि आदमी उस गुनाह से रुक जाए जिसमें वह लिप्त रहा है। दूसरी यह कि अपने किए पर पछतावा करे। तीसरी यह कि इस बात का दृढ़ निश्चय करे कि आगे उसकी पुनरावृत्ति नहीं होगी। यदि इनमें से एक शर्त भी छूट जाए तो तौबा सही नहीं होगी। यदि गुनाह का सम्बन्ध किसी इनसान से या मानवाधिकार हनन से है तो उन तीन शर्तों के अतिरिक्त एक और शर्त बढ़ जाएगी। वह यह कि जिसका जो हक़ मारा है वह अदा करे। यदि आर्थिक मामला हो तो नुक़सान के बराबर माल की क्षतिपूर्ति करे, यदि किसी व्यक्ति पर झूठा इलज़ाम लगाया है तो उसे उचित बदले का अवसर दे या उससे क्षमा माँगे, यदि ग़ीबत (पीठ पीछे निन्दा) की है तब भी क्षमा-याचना के ज़रीए उससे छुटकारा हासिल करे।" (हदीस : रियाज़ुस-सालिहीन)

इमाम इब्ने-तैमिया *(रह.)* फ़रमाते हैं—

"सच बात यह है कि मात्र तौबा से मज़लूम का हक़ समाप्त नहीं होता। इस मामले में क़ातिलों और दूसरे ज़ालिमों के बीच कोई अन्तर नहीं है। तौबा उसी समय पूर्ण होगी जबकि ज़ुल्म का बदला दिया जाए। यदि दुनिया में यह न दिया जाए तो आख़िरत में अवश्य ही देना पड़ेगा।"

(फ़तावा इब्ने-तैमिया)

ज़ालिम का कोई साथ न दे

ज़ुल्म किसी एक व्यक्ति पर हो रहा हो या किसी समूह पर, इस मामले में समाज पर भी कुछ ज़िम्मेदारियाँ हैं। समाज को इन ज़िम्मेदारियों का एहसास न हो या वह उन्हें पूरा न करे तो अधिकार माँगनेवालों और अधिकार छीननेवालों के बीच संघर्ष का बाज़ार गर्म रहेगा। कभी एक तो कभी दूसरा हावी होता रहेगा, परन्तु ज़ुल्म-ज़्यादती का अन्त न होगा।

बुराइयाँ उसी समय मिटती हैं जब पूरा समाज उनके ख़िलाफ़ हरकत में आ जाए, उन्हें क़दम जमाने न दे और जहाँ कोई बुराई सिर उठाए उसे कुचलकर रख दे। इस्लाम ज़ुल्म के ख़िलाफ़ ऐसा ही वातावरण बनाता है। इस सिलसिले में उसकी सबसे पहली हिदायत यह है कि कोई व्यक्ति ज़ुल्म-ज़्यादती के मामले में किसी का साथ न दे और ज़ालिम का कोई सहयोग न करे। औस-बिन-शरजील *(रज़ि.)* बयान करते हैं कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "जो व्यक्ति ज़ालिम को ज़ालिम जानते हुए उसका मनोबल बढ़ाने के लिए उसके साथ चले वह इस्लाम से ख़ारिज (बाहर) हो गया।" (हदीस : मिश्कात)

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अम्र *(रज़ि.)* से रिवायत है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "जिसने किसी झगड़े में ज़ुल्म के साथ सहयोग किया वह अल्लाह का ग़ज़ब (क्रोध) लेकर लौटा।" (हदीस : अबू-दाऊद)

मज़लूम का साथ दिया जाए

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ज़ालिम से असहयोग भी मज़लूम के साथ हमदर्दी और सदभावना है। कभी-कभी तो ज़ालिम के साथ आदमी का हित जुड़ा रहता है। इन हितों की परवाह न करके मज़लूमों का साथ देना बड़ी क़ुरबानी है, और यह ज़रूरी भी है कि ज़ालिम के मुक़ाबले में मज़लूम का साथ दिया जाए और उसकी मदद की जाए। ऐसा ही चरित्र इस्लाम इनसान का बनाना चाहता है। उसने यह शिक्षा दी और इसका आदेश दिया कि किसी के साथ ज़ुल्म हो रहा हो तो उसे बेसहारा न छोड़ा जाए, बल्कि उसकी मदद की जाए और उसे ज़ालिम के पंजे से छुड़ाया जाए। नैतिकता की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है कि इनसान किसी पर ज़ुल्म न करे। यदि इनसान ऐसा नहीं करता तो वह हैवान (पशु) के स्तर पर पहुँच जाता है। मानवता, नैतिकता और शिष्टाचार का तक़ाज़ा है कि कोई पाशविक गुणोंवाला व्यक्ति किसी बेबस और मजबूर इनसान पर हाथ उठाए तो इनसान ढाल बन जाए और उसकी बर्बरता को रोक दे। इस्लाम इनसान को इनसानियत के इसी

बुलन्द मक़ाम तक पहुँचाता है। हज़रत बरा-बिन-आज़िब *(रज़ि.)* कहते हैं कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद *(सल्ल.)* ने हमें सात बातों का हुक्म दिया और सात बातों से रोका। उनमें से एक बात यह भी थी कि हम मज़लूम की मदद करें।

(हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

इस हुक्म की क़ानूनी हैसियत के बारे में इमाम नव्वी *(रह.)* लिखते हैं—

> "..... रहा मज़लूम की मदद करना तो यह उन आदेशों में से है जो फ़र्ज़े-किफ़ाया (एक या कुछ व्यक्ति यह फ़र्ज़ अदा कर दें तो सबकी ओर से फ़र्ज़) है। यह अम्र बिल-मारूफ़ व नह्य अनिल-मुनकर (भलाई का हुक्म देना और और बुराई से रोकना) के अन्तर्गत आता है। इसका सम्बोधन समाज के उन व्यक्तियों की ओर है जो इसकी ताक़त रखते हों और इसकी वजह से उन्हें किसी नुक़सान की आशंका न हो।"
>
> (शरह मुस्लिम)

इसका मतलब यह है कि किसी पर ज़ुल्म हो रहा हो तो जो व्यक्ति उस ज़ुल्म को रोक सकता हो उसकी ज़िम्मेदारी है कि वह आगे बढ़कर उसे रोक दे। यह समाज पर फ़र्ज़े-किफ़ाया है। यदि किसी ने भी ज़ुल्म को रोकने का काम न किया तो पूरा समाज गुनाहगार होगा और अल्लाह के सामने उसका जवाब देना होगा। समाज से यह फ़र्ज़ केवल उसी हालत में ख़त्म होगा जब यह मान लिया जाए कि उसमें एक व्यक्ति भी ज़ुल्म के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने और मज़लूम के समर्थन में खड़ा होने की ताक़त नहीं रखता, या इसके कारण असहनीय नुक़सान पहुँचने की आशंका थी और वह इसकी हिम्मत नहीं कर पा रहा था।

ज़ालिम को ज़ुल्म से रोका जाए

जब कोई सितम ढानेवाला उठकर चारों ओर तबाही मचा दे, अल्लाह के बन्दों का ख़ून बहाए, उनके अधिकार छीन ले और उनके साथ जानवरों से भी बुरा व्यवहार करने लगे तो जो लोग धार्मिक या अच्छे आचरणवाले समझे जाते हैं उनपर प्रायः दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। एक प्रतिक्रिया ख़ामोशी की होती है। यह उस वक़्त होती है जब

उनकी हैसियत तमाशा देखनेवालों जैसी होती है और ज़ुल्म के शिकार दूसरे होते हैं। दूसरी प्रतिक्रिया उस समय होती है जब ज़ुल्म की मार स्वयं पर पड़ती है। यह प्रतिक्रिया हाय-तौबा, और फ़रियाद और मातम के रूप में प्रकट होती है। इस्लाम न तो गूँगी-बहरी दीनदारी (धार्मिकता) का क़ायल है और न मात्र हाय-तौबा को काफ़ी समझता है। इसलिए कि आदमी चाहे यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाए कि किसी ज़ुल्म-ज़्यादती में उसका हाथ नहीं है, या रो-धोकर दिल का बोझ थोड़ा हल्का कर ले, उससे बहरहाल न तो ज़ुल्म मिट सकता है और न न्याय और इनसाफ़ वुजूद में आ सकता है। ज़ुल्म की भी एक ताक़त होती है और हक़ीक़त यह है कि ताक़तवर ही ज़ुल्म करता है। उसका तोड़ करने के लिए उसके ख़िलाफ़ झंडा उठाना, उसके मुक़ाबले में सीना तानकर खड़े होना, उसके लिए जान-माल क़ुरबान करना और बड़ा संघर्ष करना पड़ता है तब हक़दारों को हक़ मिलता है, मज़लूमों को सांत्वना मिलती है, और बड़ी बात यह कि अपना फ़र्ज़ अदा होता है। मोमिन (सच्चे मुसलमान) की यही शान बताई गई है कि वह ज़ालिम की आँखों में आँखें डालकर बात करता है और उसे ज़ुल्म से रोकने की कोशिश करता है। यदि मुस्लिम उम्मत इस शान से ख़ाली हो जाए और उसमें ऐसे बाहौसला ईमानवाले न रहें तो इसका मतलब यह होगा कि वह अपनी ज़िन्दगी खो चुकी है और नैतिक रूप से उसकी मौत हो चुकी है। हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अम्र-बिन-आस *(रज़ि.)* कहते हैं कि मैंने अल्लाह के रसूल मुहम्मद *(सल्ल.)* से सुना है—

> "जब तुम यह देखो कि मेरी उम्मत ज़ालिम से यह कहते डर रही है कि तुम ही ज़ालिम हो तो समझ लो कि उसे उसके हाल पर छोड़ दिया गया है।" (हदीस : मुसनद अहमद)

स्पष्ट है कि इसके लिए बड़े साहस, हिम्मत और ईमानी ताक़त की ज़रूरत है। इसी वजह से कहा गया है कि ज़ालिम बादशाह के सामने हक़ बात कहना सबसे बड़ा जिहाद है और उस राह में जान देना सबसे बड़ी शहादत है। यह एक हक़ीक़त है कि ज़ालिम के ख़िलाफ़ इस प्रकार के साहसी लोग न उठें तो ज़ुल्म फले-फूलेगा और उसके बुरे परिणाम भी

आकर रहेंगे। अल्लाह ज़ुल्म को सख़्त नापसन्द करता है। जब वह बढ़ जाता है तो उसका अज़ाब (विपत्तियों के रूप में) आता है ुरे-भले सब ही उससे दोचार हो जाते हैं। इसी वजह से हदीस में ़कर कहा गया है कि ज़ुल्म को उभरने और पनपने न दिया जाए पूरा समाज तबाह होकर रह जाएगा। हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ कहते हैं कि मैंने अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* का यह इर्शाद सुना है—

> "जब लोग ज़ालिम को देखें और उसका हाथ पकड़कर ज़ुल्म से न रोक दें तो दूर नहीं कि अल्लाह अपनी ओर से उन सबपर अज़ाब नाज़िल कर दे।" (हदीस : तिर्मिज़ी)

। समूह को ज़ुल्म करने न दिया जाए

;स प्रकार इस्लाम यह चाहता है कि जब भी किसी व्यक्ति पर ज़ुल्म समाज उसके समर्थन में खड़ा हो जाए और ज़ुल्म को रोकने की ोशिश करे। इसकी भी सम्भावना है कि एक व्यक्ति नहीं बल्कि ामूह दूसरे समूह पर ज़ुल्म और अत्याचार करने लगे। यह मात्र ना ही नहीं, बल्कि दुनिया का इतिहास इस प्रकार की ज़ुल्म-ज़्यादती से ड़ा है। इस्लामी समाज में कभी यह स्थिति उत्पन्न हो तो देखिए न का क्या आदेश है—

> "और यदि ईमानवालों में से दो समूह आपस में लड़ पड़ें तो उनमें सुलह-समझौता करा दो। परन्तु उनमें से एक समूह दूसरे पर ज़्यादती करे तो तुम उस समूह से जंग करो जो ज़्यादती करे, यहाँ तक कि वह अल्लाह के हुक्म की ओर लौट आए। जब वह लौट आए तो उनके बीच न्याय के साथ सुलह (समझौता) करा दो और इनसाफ़ करो। बेशक अल्लाह इनसाफ़ करनेवालों को पसन्द करता है। मुसलमान तो एक-दूसरे के भाई हैं। अतः अपने दो भाइयों में (जब झगड़ा हो तो) सुलह करा दो और अल्लाह से डरते रहो। उम्मीद है कि तुमपर रहम किया जाएगा।" (क़ुरआन, 49:9,10)

क़ुरआन की उपरोक्त आयतों से स्पष्ट है कि मुसलमानों के किसी ूहों में मतभेद को लड़ाई-झगड़े का रूप नहीं लेना चाहिए। यह एक ही हो सकता है कि वे आपस में लड़ पड़ें। आयत के शब्दों से यह

बात भी मालूम होती है कि वस्तुस्थिति स्पष्ट होने के बाद किसी का सुलह के प्रयास को स्वीकार न करना और उसके ख़िलाफ़ ब कर बैठना मुसलमानों में यदाकदा ही देखने को मिल सकता है। यह आम बात न होगी। (राज़ी, तफ़सीर कबीर)

इस आयत से निम्नलिखित उसूली बातें निकलती हैं—

(1) मुसलमानों के दो समूह आपस में लड़ पड़ें तो फ़रमाया गया, ' बीच सुलह करा दो।" इसके लिए नसीहत की जाए, ग़लतफ़ को दूर किया जाए और मतभेद और विवाद के नुक़सान से ः कराया जाए। प्रेम और एकता के लाभ बताए जाएँ, प्रभा इस्तेमाल किया जाए, यानी जो भी कोशिश की जाए वह इस्ल निकट पसन्दीदा और बड़े अज्र-व-सवाब का कारण है।

हज़रत अबुद-दरदा *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्लाह के *(सल्ल.)* ने हमसे सवाल किया कि क्या मैं तुम्हें वह अमल न बता नफ़्ल (रोज़े), सदक़े और नमाज़ से (भी) ज़्यादा फ़ज़ीलत (श्रेष्ठता) है? हमने अर्ज़ किया ज़रूर फ़रमाइए। नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया— " लोगों के सम्बन्धों को ठीक करना और उनके मतभेद को दूर करना लोगों के सम्बन्धों को बिगाड़ना तो यह इनसान की नेकियों क देनेवाला (समाप्त करनेवाला) अमल है।" (हदीस : तिरमिज़ी)

(2) यह सुलह-समझौता, न्याय और इनसाफ़ अल्लाह की कि (क़ुरआन) के अनुसार होगा, यह देखे बिना कि किस पक्ष को फ़ायदा पहुँचता है और किसे नुक़सान। अल्लामा बग़वी कहते हैं

> "उनके बीच सुलह करा दो, उन्हें इस बात की दावत देकर कि अल्लाह की किताब जो आदेश दे उसे मान लें और उसके फ़ैसले को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लें, चाहे वह उनके पक्ष में जाए या उनके विरुद्ध।"

(3) झगड़े को सिर्फ़ निपटा देना ही काफ़ी नहीं है बल्कि न्याय इनसाफ़ और अल्लाह की मर्ज़ी के अनुसार उसका फ़ैसला ज़रु ताकि मज़लूम को उसका हक़ मिले और विवाद की जड़ ख़त इसलिए कि यदि विवाद की जड़ अपनी जगह बाक़ी रही तो

भी समय दोबारा विवाद हो सकता है। अल्लामा अबू-सऊद कहते हैं—

> "उनके बीच न्याय और इनसाफ़ के साथ सुलह करो। वह इस प्रकार कि अल्लाह के हुक्म के अनुसार उनके विवाद का फ़ैसला चुका दो। मात्र उनसे अलग रहने पर सन्तुष्ट न हो रहो, वरना हो सकता है कि किसी दूसरे वक़्त उनके बीच झगड़ा हो जाए।"
>
> (तफ़्सीर अबू-सऊद अली हामिश अर-राज़ी)

विवाद और मतभेद के बाद न्याय से हट जाने की आशंका रहती है इसलिए उसपर ख़ास ध्यान दिया गया ताकि किसी भी स्तर पर न्याय से ज़रा भी भटकाव पैदा न होने पाए। अल्लामा अबू-सऊद *(रह०)* कहते हैं—

> "दोबारा इस्लाह (सुधार) के हुक्म के साथ अद्ल (न्याय) की शर्त इसलिए लगाई है कि जंग के बाद जो सुलह-सफ़ाई होगी उसमें नाइनसाफ़ी की आशंका है। फिर इसपर और अधिक ज़ोर डालने के लिए फ़रमाया जो कुछ तुम करो और जो न करो सब में इनसाफ़ का रवैया अपनाओ।"
>
> (तफ़सीर अबू-सऊद)

) दोनों पक्षों में से एक ज़ुल्म-ज़्यादती पर डटा रहे और सत्य और न्याय के आगे झुकने के लिए तैयार न हो तो मज़लूम पक्ष का साथ देना ज़रूरी है ताकि बलपूर्वक उसका हक़ ज़ालिम से दिलाया जा सके। अल्लामा अबू-सऊद *(रह०)* कहते हैं—

> "सदभावना और सुलह की कोशिश के बाद उस व्यक्ति का सहयोग ज़रूरी है जिसके साथ ज़्यादती हुई है।"
>
> (तफ़सीर अबू-सऊद)

) जो समूह ज़ुल्म-ज़्यादती करे उसके ख़िलाफ़ बल प्रयोग उस समय होगा जबकि सुधार के प्रयास असफल हो जाएँ। इससे पहले बल-प्रयोग सही नहीं है। अल्लामा अबू-बक्र जस्सास *(रह०)* हनफ़ी कहते हैं—

> "अल्लाह ने जंग से पहले हक़ और इनसाफ़ की ओर बुलाने का हुक्म दिया है। अगर वह हक़ और इनसाफ़ की ओर लौटने

से इनकार कर दे तो उससे जंग की जाएगी।"

(अहकामुल-कुरआन लिल-जस्सास)

अल्लामा इब्ने-अरबी *(रह.)* मालिकी कहते हैं–

"अल्लाह ने जंग से पहले सुलह का हुक्म दिया और जंग को उस स्थिति के लिए विशेष कर दिया है जबकि बग़ावत और सरकशी (विद्रोह) हो।" (अहकामुल-कुरआन)

7. ज़ालिम और विद्रोही समूह के ख़िलाफ़ बल प्रयोग कौन करे किस हद तक करे? यह एक अहम सवाल है। इसका जव अल्लामा अबू-बक्र जस्सास *(रह.)* हनफ़ी ने विस्तार से दिया उसका सार यह है कि यदि बाग़ी समूह अल्लाह के हुक्म के अनु फ़ैसले के लिए तैयार न हो तो उससे जंग का हुक्म दिया गया प्रायः इसमें जंग की सभी स्थितियाँ समाहित हैं। यदि इसके थोड़े बल प्रयोग से काम बन सकता है– जैसे लाठी चलाना या से पिटाई करना तो ज़्यादा बल का प्रयोग नहीं किया जाएगा, लेवि अगर इससे वह ज़ुल्म और बग़ावत से बाज़ न आए तो तलवार उठाई जाएगी। यह कहना सही नहीं है कि इस स्थिति में भी तल उठाना नाजाइज़ है। अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* का इर्शाद है कि तु से जो व्यक्ति बुराई को देखे वह उसे ताक़त से बदल दे, यदि इसकी ताक़त न रखता हो तो ज़बान से उसे बदले (अर्थात बद के लिए आवाज़ उठाए) और यदि इसकी भी ताक़त न हो तो से नापसन्द करे। यह ईमान का कमज़ोर दर्जा है। इस हदीस आप *(सल्ल.)* ने ताक़त के ज़रीए बुराई को ख़त्म करने का हु दिया है। स्पष्ट है कि इसका तक़ाज़ा यह है कि जिस प्रकार सम्भव हो बुराई का नाश अनिवार्य रूप से किया जाए।

(अहकामुल-कुरआन लिल-जस्सा

सही बात यह है कि इस मामले में हुकूमत और समाज के ब अन्तर करना होगा। ज़ुल्म-ज़्यादती को ताक़त से रोकना मूलतः प्रशा की ज़िम्मेदारी है। यदि प्रशासन अपनी ज़िम्मेदारी महसूस न करे समाज का कर्त्तव्य है कि वह उसकी ओर प्रशासन का ध्यान आक करे और ज़ुल्म को मिटाने में उसके साथ सहयोग करे। जैसे मज़लूम

में निर्भीक होकर गवाही देना, उसे नैतिक और आर्थिक सहयोग देना, ़ेम और अत्याचारी को किसी प्रकार का सहयोग न करना, उसका ाजिक बहिष्कार करना, इस बात की कोशिश करना कि उसे अपने ् की भरपूर और उचित सज़ा मिले। इस प्रकार के और भी क़दम ाज उठा सकता है, बल्कि उसे उठाना चाहिए। कुछ हंगामी स्थितियों में वह मज़लूम की जान-माल और इज़्ज़त-आबरू को बचाने लिए अपनी शक्ति का भी इस्तेमाल कर सकता है, परन्तु इस मामले वह एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता। क़ानून को अपने हाथ में ा उसके लिए उचित न होगा।

इसकी भी सम्भावना है कि ख़ुद हुकूमत ज़ुल्म-ज़्यादती का रवैया ना ले तो उस समय उसे रोकने की भरपूर कोशिश की जाएगी, परन्तु बड़ा कठिन काम है। इसमें इसका ध्यान रखा जाएगा कि ज़ालिम को ने में कोई बड़ी ख़राबी न पैदा हो और दूसरे ज़ुल्मों का दरवाज़ा न जाए। तफ़्सीर कबीर में यही बात इस प्रकार कही गई है—

> "तुम जंग करो उस समूह से जो हद से आगे बढ़े, यानी ज़ालिम से। तुमपर ज़ालिम को मज़लूम (पीड़ित) से हटाना अनिवार्य है। अब यदि ज़ालिम का सम्बन्ध प्रजा से है तो अमीर (शासक) पर अनिवार्य होगा कि ज़ुल्म करनेवालों को रोके, परन्तु यदि ज़ुल्म ख़ुद अमीर (शासक) की ओर से हो तो मुसलमानों पर अनिवार्य होगा कि उसे नसीहत से या उससे आगे के किसी उपाय से उसे ज़ुल्म से रोक दें। परन्तु इसकी शर्त यह है कि इसकी वजह से इसी प्रकार का या इससे बड़ा फ़ित्ना न पैदा हो जाए, जैसे दो समूहों की जंग से पैदा होता है।"

इस प्रकार इस्लाम हुकूमत और समाज दोनों को ज़ुल्म के ख़िलाफ़ ा करता और दोनों के सहयोग से ज़ुल्म को ख़त्म करता है। वह मत को निर्देश देता है कि ज़ुल्म को बलपूर्वक रोके और समाज को ेश देता है कि ज़ुल्म को मिटाने में हुकूमत के साथ सहयोग करे और बात की निगरानी करता रहे कि हुकूमत ख़ुद भी न्याय के मार्ग से े न पाए।

ज़ालिम और मज़लूम दोनों की मदद की जाए

इस्लाम समाज को ज़ुल्म से मुक्त करना चाहता है; इसलिए ज़ुल्म के ख़िलाफ़ सख़्त माहौल तो तैयार करता है परन्तु ज़ालिम ख़िलाफ़ घृणा और शत्रुता की भावनाएँ नहीं भड़काता, बल्कि उसे हमदर्द और हितैषी बनकर समझाता है। हक़ीक़त यह है कि ज़ालि अपने अनुचित व्यवहार से, चाहे इसका आभास उसे हो अथवा न स्वयं को ही तबाह करता है। उसकी दुनिया (इहलोक) भी बर्बाद होती और आख़िरत (परलोक) भी। इस्लाम को न तो मज़लूम की तब स्वीकार है और न ज़ालिम की। उसे दोनों के साथ हमदर्दी है और दोनों को बचाना चाहता है। परन्तु इस हमदर्दी का स्वरूप भिन्न हदीस में कहा गया है कि ज़ालिम और मज़लूम दोनों ही तुम्हारी मदद मोहताज हैं। मज़लूम की मदद यह है कि उसे ज़ालिम के अत्याचार बचाया जाए और ज़ालिम की मदद यह है कि उसे ज़ुल्म और अत्याच करने से रोक दिया जाए! हज़रत अनस *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्ल के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "अपने भाई की मदद करो चाहे वह ज़ालिम हो या मज़लूम। सहाबा ने अर्ज़ किया कि यदि वह मज़लूम होगा तो निस्सन्देह हम उसकी मदद करेंगे परन्तु ज़ालिम हो तो कैसे मदद करें? आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "तुम उसका हाथ पकड़ लो (और उसे ज़ुल्म करने न दो, यही उसकी मदद है)।"
>
> (हदीस : बुख़ारी)

इस्लाम के आने के समय अरब में हर मामले में अपने ख़ानदा क़बीले, ज़ात-बिरादरी को देखा जाता और हक़-नाहक़ को देखे बि उसकी मदद को ज़रूरी समझा जाता था। इसी बुनियाद पर बड़ी-बड़ी ज होती रहती थीं और ख़ूनख़राबे से अरब का रेगिस्तान लाल होता रह था। इस्लाम ने इस अज्ञानपूर्ण पक्षपात को ख़त्म किया। उसने कहा कि क़ौम के साथ हमदर्दी होनी चाहिए, इसमें कोई शक नहीं परन्तु इ हमदर्दी का तक़ाज़ा यह है कि यदि वह ज़ुल्म-ज़्यादती के मार्ग पर चले त उसे आगे बढ़ने से रोक दिया जाए, यह न हो कि बर्बादी के जिस खड्ड वह गिर रही है उसमें आदमी ख़ुद भी गिर पड़े।

़ज़रत जाबिर *(रज़ि.)* की रिवायत है कि दो नौजवान, जिनमें से एक र (हिजरत करके मदीना आनेवाले) और दूसरा अनसारी (मुहाजिरों हायता करनेवाले मूल मदीनावासी) था, आपस में लड़ पड़े। अनसारी न ने मदद के लिए अनसार को पुकारा और मुहाजिर जवान ने रों को आवाज़ दी। अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने यह सुना तो बाहर फ़ लाए। लोगों ने अर्ज़ किया कि दो नौजवानों का झगड़ा था, कोई बात नहीं है। इसपर आपने इत्मीनान प्रकट किया कि कोई बड़ी नहीं घटी। एक रिवायत में आता है कि नौजवानों की इस पुकार नकर आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "इसे ख़त्म करो, यह बड़ी गन्दी है।"

इसके बाद नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया–

> "आदमी को अपने भाई की मदद करनी चाहिए, चाहे वह ज़ालिम हो या मज़लूम। यदि ज़ालिम हो तो उसे ज़ुल्म से रोक दे, यही उसकी मदद है। और मज़लूम हो तो (ज़ालिम के साथ मुक़ाबले में) उसका समर्थन करे।" (हदीस : मुस्लिम)

किसी व्यक्ति या समूह की मज़लूमी पर एक मुसलमान को जो कष्ट है या हो सकता है और जिस निष्ठा और हमदर्दी से वह इसे हटाना ा है, ज़ालिम से भी उसे उतनी ही हमदर्दी होनी चाहिए। उसे भी ा से बचाने के लिए उसके अन्दर वही तड़प, दर्दमन्दी और हमदर्दी चाहिए जो मज़लूम के हक़ में उसके अन्दर पाई जाती है। हक़ीक़त है कि मज़लूम की केवल दुनिया ख़राब होती है और ज़ालिम की ा ही नहीं आख़िरत भी बर्बाद होती है– यह बहुत बड़ी बर्बादी है। ाहलू से तो मज़लूम से ज़्यादा हमदर्दी ज़ालिम से होनी चाहिए।



मज़लूम के अधिकार

किसी व्यक्ति पर ज़ुल्म-ज़्यादती हो तो उसे यह अधिकार मि
चाहिए कि वह उसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाए और उस नुक़सान
भरपाई की माँग करे जो उसे पहुँचा है, अन्यथा समाज में कमज़ोर
अधिकार सुरक्षित नहीं रह सकते। जिसके हाथ में ताक़त होगी वह
चाहेगा उनके अधिकारों का हनन करेगा और उसे किसी जवाबी का
का ख़तरा भी न होगा। इस्लाम ने मज़लूम को वे सभी अधिकार दि
जिनके द्वारा वह ज़ुल्म का मुक़ाबला कर सकता है, ज़ालिम को बेन
कर सकता है और उसके ख़िलाफ़ क़ानूनी प्रयास कर सकता है। यहाँ
सम्बन्ध में कुछ अधिकारों का उल्लेख किया जा रहा है।

मज़लूम, ज़ालिम के ख़िलाफ़ आवाज़ उठा सकता है

यदि किसी पर ज़ुल्मो-सितम हो तो उसे ज़ालिम के ख़िलाफ़ आ
उठाने का स्वाभाविक अधिकार है, परन्तु समाज के कमज़ोर लोग
वर्ग आमतौर पर इस अधिकार से वंचित ही रहे हैं। उन्हें इतना द
और कुचला गया कि वे बड़े-से-बड़े ज़ुल्म और बर्बरता के ख़िलाफ़
आवाज़ उठाने का साहस ख़ुद में नहीं पाते थे। वे अपने अधिकार
स्वामी नहीं थे, बल्कि उनके अधिकार उन दमनकारियों और ज़ालिम
हाथ में थे जो प्यार, मुहब्बत और हमदर्दी से अनभिज्ञ थे। वे जब च
उन बेसहारों के अधिकारों को रौंद डालते और उन्हें शिकायत के
तक ज़बान पर लाने की इजाज़त नहीं देते। इस्लाम ने मज़लूम को
के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का अधिकार दिया और एलान किया—

> "अल्लाह को पसन्द नहीं कि किसी की बुरी बात का ज़िक्र किया जाए, लेकिन जिस व्यक्ति पर ज़ुल्म हो (वह इसका इज़हार कर सकता है), और अल्लाह सुननेवाला और जाननेवाला है।" (क़ुरआन, 4:148)

किसी ग़लत और गन्दी (ओछी) बात का ज़बान से निकालना
उसकी चर्चा करना सख़्त नापसन्दीदा है, इसलिए कि इससे उसे ब

मिलता है। जो गन्दगी एक जगह होती है वह दस जगह फैलती है। हाँ, किसी पर ज़ुल्म हो तो उसे उसको व्यक्त करने का हक़ है। इससे एक ओर ज़ालिम बेनक़ाब होगा और समाज उसकी बुराई से सुरक्षित रहेगा तो दूसरी ओर मज़लूम के साथ हमदर्दी पैदा होगी और उसपर होनेवाले अन्याय और अत्याचार की भरपाई होगी।

ज़ुल्म-ज़्यादती और दुर्व्यवहार के बहुत-से रूप हो सकते हैं। आदमी के साथ जिस प्रकार की भी ज़्यादती हो वह उसे व्यक्त कर सकता है और हर प्रकार की ज़्यादती को व्यक्त करने की उसे इजाज़त होगी। उपर्युक्त आयत में मज़लूम को अपने ऊपर होनेवाले हर ज़ुल्म को प्रकट करने की, बल्कि बदला लेने की इजाज़त दी गई है। अतः सद्दी कहते हैं–

> "बेशक अल्लाह इस बात को नापसन्द करता है कि कोई भी व्यक्ति बुराई को प्रकट करे, परन्तु अल्लाह फ़रमाता है कि जिसपर ज़ुल्म हुआ है वह यदि अपने ज़ुल्म के जवाब में बदला ले तो उसपर कोई गुनाह नहीं है।"

अल्लामा इब्ने-जरीर-तबरी *(रह.)* ने इन सब कथनों को उद्धृत करने के बाद आयत का मतलब इस प्रकार बयान किया है–

> "अल्लाह इस बात को पसन्द नहीं करता कि अलानिया (खुले तौर पर) किसी की बुराई की जाए, अलबत्ता जिस व्यक्ति पर ज़ुल्म हुआ है वह यदि इसकी चर्चा करे तो कोई दोष नहीं है। इसमें यह बात भी सम्मिलित है कि किसी ने मेहमान का हक़ बिल्कुल नहीं अदा किया या ठीक से नहीं अदा किया या किसी की जान-माल पर उसने ज़्यादती की। इसमें यह भी शामिल है कि मज़लूम अल्लाह से दुआ करे कि वह उसकी मदद करे। यदि वह आवाज़ के साथ दुआ करे तो यह भी एक प्रकार से (ज़ुल्म की) अभिव्यक्ति ही है।" (तफ़्सीर इब्ने-जरीर)

ख़ाज़िन *(रह.)* लिखते हैंः

> "उलमा ने कहा है कि लोगों की गुप्त बातों को दूसरों पर प्रकट करना जाइज़ नहीं है, क्योंकि इसके कारण लोग ग़ीबत (दूसरों की सत्य-असत्य निन्दा) में लिप्त हो जाते हैं और खुद

> वह व्यक्ति (गुप्त बातें बयान करनेवाला) सन्देह में पड़ जाता है। अलबत्ता जिस पर ज़ुल्म हुआ हो वह इसे व्यक्त कर सकता है। इस तरह कि अमुक व्यक्ति ने उसका माल चोरी किया या हथिया लिया। यदि कोई उसे बुरा भला कहे तो उसका जवाब देने का भी उसे हक़ है।" (तफ़्सीरुल-ख़ाज़िन)

जिस व्यक्ति पर ज़ुल्म-ज़्यादती हो यदि उसे अभिव्यक्ति की आज़ादी न दी जाए तो उसपर एक और ज़ुल्म होगा। मज़लूम की ज़बान बन्द करने से ज़ालिम को खुली छूट मिल जाती है और उसे फलने-फूलने से दुनिया की कोई ताक़त रोक नहीं सकती। मज़लूम को यह हक़ देकर कि वह ज़ुल्म को खुलकर अभिव्यक्त कर सके, इस्लाम ने समाज को उसके साथ हमदर्दी की प्रेरणा दी है। इस्लाम हर पहलू से ज़ुल्म को ख़त्म करना चाहता है।

हक़दार अपना हक़ माँग सकता है

हदीसों में यह बात बड़े स्पष्ट रूप से आई है कि हक़दार अपना हक़ माँग सकता है। उसे इस हक़ (अधिकार) से वंचित नहीं किया जा सकता। किसी की कमज़ोरी से फ़ायदा उठाना और उसे अपने हक़ की माँग करने से रोकना ग़ैर-इस्लामी रवैया है। हक़दार की ओर से अपने हक़ की माँग में सख़्ती और कठोरता भी हो तो उसे सहन किया जाना चाहिए। हज़रत अबू-हुरैरा *(रज़ि.)* का बयान है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने एक व्यक्ति से (जो सम्भवतः ग़ैर-मुस्लिम था) ऊँट क़र्ज़ में लिया। उसने कठोरता से क़र्ज़ वापिस करने का तक़ाज़ा किया तो सहाबा किराम *(रज़ि.)* ने उसे सख़्त जवाब देना चाहा। आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "इसे छोड़ दो इसलिए कि जो हक़दार है उसे बोलने की गुंजाइश है। इसके बाद हुक्म दिया कि एक ऊँट ख़रीदकर उसे दे दिया जाए। सहाबा ने अर्ज़ किया कि जो ऊँट उससे लिया गया था उस उम्र का ऊँट तो इस समय उपलब्ध नहीं है, अलबत्ता उससे बेहतर ऊँट मौजूद है। आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया वही ऊँट ख़रीदकर उसे दे दो। तुममें बेहतर इनसान वह है जो बेहतर तरीक़े से क़र्ज़ चुकाए।" (हदीस : बुख़ारी)

इस हदीस की व्याख्या करते हुए हाफ़िज़ इब्ने-हजर (रह०) फ़रमाते हैं,

> "वह ज़ोर से (शक्ति से) माँग सकता और तर्क की शक्ति से

> बोल सकता है, परन्तु शरीअत ने जो शिष्टाचार बताया है उसका ध्यान रखते हुए।" (फ़तहुल-बारी)

मतलब यह कि शरीअत की स्थापित की हुई सीमा के अन्दर रहते हुए हक़दार पूरी शक्ति से अपना हक़ माँग सकता है। इसी हदीस के सन्दर्भ में अल्लामा इब्नुल-मलिक कहते हैं कि हक़दार को अपना हक़ न मिले तो केवल यही नहीं कि शिकायत और डाँट-डपट की उसे इजाज़त होगी, बल्कि वह क़ानूनी कार्रवाई भी कर सकता है। वे कहते हैं—

> "यहाँ हक़ से तात्पर्य क़र्ज़ है। यानी जिसका अपने क़र्ज़दार पर हक़ हो और वह उसके साथ टालमटोल करे तो वह उसकी शिकायत कर सकता है, हाकिम तक उसे ले जा सकता है और उसे डाँट-डपट भी सकता है। हदीस में (अरबी) शब्द 'मक़ाल' आया है, इसका यही मतलब है।"

हक़ देने में टालमटोल करना ज़ुल्म है

एक इनसान दूसरे इनसान का हक़ अदा करने में ग़फ़लत और सुस्ती करे अथवा हक़दार अपने जाइज़ हक़ से ज़्यादा की माँग करे तो यह भी ज़ुल्म करना है। इसपर यदि रोक न लगाई जाए, तो ज़ुल्म की व्यापकता बढ़ सकती है। इस्लाम इस रवैये को ग़लत और नाजाइज़ ठहराता और सख़्ती से रोकता है। हज़रत अबू-हुरैरा *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमायाः

> "मालदार का (क़र्ज़ की वापसी के सिलसिले में) टालमटोल करना ज़ुल्म है (इसकी एक मुसलमान से आशा नहीं की जा सकती इसलिए) जब तुममें से किसी को किसी मालदार के पास भेजा जाए ताकि वह उस मालदार से अपना क़र्ज़ वुसूल कर ले तो वह उसके पास जाए (और उससे अपना क़र्ज़ वसूल करे। इस प्रक्रिया को शरीअत की परिभाषा में 'हवाला' कहते हैं।)" (हदीस : बुख़ारी)

हदीस में 'मतल' शब्द आया है। इसका अर्थ है हक़ अदा करने में बहानेबाज़ी और विलम्ब। इमाम नव्वी, क़ाज़ी अयाज़ *(रह.)* आदि के सन्दर्भ से कहते हैं,

> "जिस हक़ का अदा करना ज़रूरी हो जाए उसके अदा करने से इनकार करना 'मतल' कहलाता है।" (शरह मुस्लिम)

हाफ़िज़ इब्ने-हजर *(रह.)* इसकी (मतल की) परिभाषा इस प्रकार करते हैं–

> "जिस चीज़ का अदा करना ज़रूरी हो जाए उसके अदा करने में बग़ैर किसी कारण के विलम्ब करना।" (फ़तहुल-बारी)

हदीस का मतलब यह है कि जो व्यक्ति सामर्थ्यवान है उसके लिए हक़ की अदाइगी में देरी करना जाइज़ नहीं है। इसलिए कि इसका कोई उचित कारण नहीं हो सकता। हक़ का अदा न करना ही ज़ुल्म नहीं है, बल्कि अकारण उसमें बहानेबाज़ी करना भी ज़ुल्म है। इमाम नव्वी फ़रमाते हैं–

> "इस हदीस के अनुसार किसी धनी व्यक्ति का हक़दार को हक़ अदा न करना ज़ुल्म और हराम है।" (शरह-मुस्लिम)

हक़ अदा करने में टालमटोल करनेवाला गुनाहगार है

जो व्यक्ति बिना किसी उचित कारण के क़र्ज़ या किसी भी प्रकार का हक़ अदा करने में जानबूझ कर देरी करे, उलमा ने उसे गुनाहगार कहा है।

हक़ अदा न करने पर सज़ा दी जा सकती है

किसी का वाजिब हक़ जान-बूझकर अदा न करना और उसमें बहानेबाज़ी करना स्पष्ट रूप से ज़ुल्म की श्रेणी में आता है। उसके ख़िलाफ़ क़ानूनी कार्रवाई भी की जा सकती है। अतः हाफ़िज़ इब्ने-हजर *(रह.)* उपरोक्त हदीस के सन्दर्भ में लिखते हैं–

> "इससे टालमटोल (बहानेबाज़ी) करनेवाले को पकड़े रहने, क़र्ज़ की अदाएगी को उसके लिए ज़रूरी क़रार देने, हर सम्भव प्रयास द्वारा इस मक़सद को पाने और बलपूर्वक उससे क़र्ज़ वापस लेने की दलील मिलती है।"

एक हदीस में यही बात ज़्यादा स्पष्ट रूप से कही गई है। हज़रत अम्र-बिन-शुरैद *(रज़ि.)* अपने बाप से रिवायत करते हैं कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया–

> "जिसके पास पैसा मौजूद है यदि वह हक़ की अदायगी से मुँह मोड़ता है तो वह इस बात को जाइज़ क़रार देता है कि उसकी इज़्ज़त का ख़याल न किया जाए और उसे सज़ा दी जाए।"
>
> (हदीस : अबू-दाऊद)

इसका मतलब यह है कि जो व्यक्ति सामर्थ्य होने के बाद भी क़र्ज़दार का हक़ अदा न करे और उसे हड़पने की कोशिश करे तो उसके ज़ुल्म-ज़्यादती को जग-ज़ाहिर करना उचित होगा। इससे यदि समाज में उसके सम्मान को बट्टा लगता है और उसकी झूठी शान पर आँच आती है तो इसमें किसी दूसरे का दोष नहीं, उसने खुद अपने सम्मान को ठेस पहुँचाई है। यही नहीं, शासन को उसके ख़िलाफ़ दण्डात्मक कार्रवाई का भी अधिकार है। वह उसे उचित सज़ा दे सकता है। अतः हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-मुबारक *(रह.)* इस हदीस की व्याख्या करते हुए फ़रमाते हैं—

> "वह अपनी इज़्ज़त को हलाल करता है (अर्थात वह अपनी हरकत से स्वयं साबित करता है कि कोई उसकी इज़्ज़त का ख़याल न करे)। मतलब यह कि उसे डाँट-डपट की जाएगी और उसकी सज़ा से मुराद यह है कि उसे क़ैद किया जाएगा।"
>
> (हदीस : अबू-दाऊद)

अल्लामा शौकानी कहते हैं—

> "इस हदीस से यह तर्क लिया गया है कि जो व्यक्ति क़र्ज़ अदा कर सकता हो और अदा न करे तो उसे सज़ा के तौर पर और उसपर सख़्ती करने के लिए क़ैद किया जा सकता है, यहाँ तक कि वह क़र्ज़ चुका दे।" (नैलुल-अवतार)

निर्धन क़र्ज़दार

उपरोक्त हदीसों की रौशनी में कहा गया है कि किसी ग़रीब व्यक्ति की ओर से हक़ अदा करने में देरी हो तो उसे ज़ुल्म नहीं कहा जाएगा। हज़रत अबू-हुरैरा *(रज़ि.)* की रिवायत गुज़र चुकी है जिसमें मालदार *(धनी)* के टालमटोल को ज़ुल्म कहा गया है। इस सन्दर्भ में इमाम नव्वी लिखते हैं—

> "इससे यह बात स्वयं सिद्ध है कि यदि कोई ग़रीब-निर्धन व्यक्ति किसी का हक़ अदा नहीं कर पा रहा है तो उसे ज़ुल्म नहीं कहा जाएगा। इसलिए कि वह मजबूर है। इसी प्रकार एक धनी व्यक्ति इसलिए देरी कर रहा है कि उसके पास तत्काल रक़म (राशि) नहीं है या और कोई उचित कारण है तो उसका

विलम्ब भी जाइज़ होगा।" (शरह-मुस्लिम)

यह बात उपरोक्त हदीस से 'विपरीत भावार्थ' के रूप में ली गई है कुछ लोग इसके क़ायल नहीं हैं। हाफ़िज़ इब्ने-हजर *(रह.)* फ़रमाते हैं–

> "जो व्यक्ति क़र्ज़ अदा न कर सके उसे टालमटोल करनेवाला कहा ही नहीं जाएगा। यदि कोई धनी व्यक्ति तत्काल धन न होने के कारण कोई हक़ अदा नहीं कर पा रहा है तो वह भी ज़ुल्म नहीं कर रहा है। इसकी दलील यह है कि ऐसे व्यक्ति को ज़कात में फ़ुक़रा (निर्धन लोगों) का जो हिस्सा है उसमें से दिया जा सकता है। यदि वह ग़नी (आत्मनिर्भर और धनी) की श्रेणी में आता हो तो उसे ज़कात नहीं दी सकती।"
>
> (फ़तहुल-बारी)

इसका मतलब यह है कि हदीस का 'विपरीत भावार्थ' निकालने की कोई ज़रूरत नहीं है। हदीस में जो चेतावनी आई है वह ग़नी (आत्मनिर्भर और धनी) के लिए है। जो ग़नी नहीं है उसके लिए यह चेतावनी नहीं है। सम्भवतः इसी कारण इमाम नव्वी *(रह.)* फ़रमाते हैं–

> "ग़नी वह व्यक्ति है जो वाजिब हक़ तत्काल अदा कर सकता हो। जो इस स्थिति में नहीं है उसे ग़नी नहीं कहा जाएगा।"
>
> (शरह-मुस्लिम)

इन हदीसों से यह निष्कर्ष भी निकाला गया है कि जो व्यक्ति निर्धन है उसे क़र्ज़ के न अदा करने पर गिरफ़्तार नहीं किया जा सकता।

किसी भी हक़ को अदा करने में टालमटोल सही नहीं है

जिस प्रकार क़र्ज़ अदा करने में बहानेबाज़ी और टालमटोल करना ज़ुल्म है उसी प्रकार वे सारे अधिकार जो एक व्यक्ति के दूसरे पर हों उनके पूरा करने में टालमटोल और अकारण विलम्ब करना भी ज़ुल्म ही है। हाफ़िज़ इब्ने-हजर *(रह.)* फ़रमाते हैं–

> 'मतल' (टालमटोल, जिससे मना किया गया है) में हर वह व्यक्ति शामिल है जिसपर कोई हक़ अनिवार्य हो। जैसे पति पर पत्नी का, मालिक पर ग़ुलाम का और शासक पर प्रजा का हक़ है। इसके विपरीत भी यही आदेश है। (फ़तहुल-बारी)

क़र्ज़दाता हवाला (हस्तान्तरण) स्वीकार करे–

जो व्यक्ति धनी है और क़र्ज़ अदा कर सकता है, हदीस में जहाँ उसे क़र्ज़ की अदाएगी में विलम्ब न करने का आदेश दिया गया है वहीं क़र्ज़ देनेवाले को निर्देश दिया गया है कि क़र्ज़ लेनेवाला यदि अपने ऊपर क़र्ज़ को किसी अन्य धनी व्यक्ति की ओर हस्तान्तरित कर दे (अर्थात यह कह दे कि अमुक व्यक्ति से क़र्ज़ वसूल कर लेना) तो इस हवाले या हस्तान्तरण को स्वीकार कर लिया जाए।

> "यदि तुम में से किसी को (क़र्ज़ के सिलसिले में) किसी मालदार का 'हवाला' दिया जाए (अर्थात् क़र्ज़ की अदायगी किसी दूसरे व्यक्ति की ओर हस्तान्तरित कर दी जाए) तो उसे उसकी ओर रुजू (पलटना) करना चाहिए।"

इमाम नव्वी *(रह.)* फ़रमाते हैं–

> "यदि क़र्ज़दार हवाला दे कि अमुक व्यक्ति से क़र्ज़ वसूल कर लिया जाए तो जम्हूर (सभी मस्लक के विद्वानों) के निकट उसका स्वीकार करना मुस्तहब और पसन्दीदा है। कुछ लोगों ने इसे मबाह (जाइज़/वैध) क़रार दिया है। दाऊद ज़ाहिरी आदि ने इसे वाजिब (अनिवार्य) कहा है।" (शरह-मुस्लिम)

हाफ़िज़ इब्ने-हजर *(रह.)* फ़रमाते हैं–

> "जम्हूर (सभी मस्लक के विद्वानों) ने इसे मुस्तहब (पसन्दीदा) क़रार दिया है। एक राय यह है कि वह मबाह (जाइज़/वैध) है। हंबली मस्लक के विद्वानों में से अक्सर ने और अबू-सौर *(रह.)*, इब्ने-जरीर *(रह.)* और अह्ले-ज़ाहिर (ज़ाहिरी पन्थ के अनुयायियों) ने इसे वाजिब (अनिवार्य) कहा है।" (फ़तहुल-बारी)

कहने का अस्ल मंशा यह है कि क़र्ज़दार की ओर से क़र्ज़दाता को अपना क़र्ज़ वसूल करने का कोई उचित प्रस्ताव दिया जाए तो उसे क़बूल कर लेना चाहिए– किसी धनी व्यक्ति का हवाला भी इसी प्रकार का एक उचित प्रस्ताव है। किसी ऐसे प्रस्ताव के लिए आग्रह नहीं करना चाहिए जिससे क़र्ज़दार को कठिनाई महसूस हो। हक़ीक़त यह है कि यदि क़र्ज़ अदा करने की और क़र्ज़ख़्वाह (क़र्ज़दाता) के अन्दर उसे परेशान न करने की भावना हो तो क़र्ज़ के कारण कभी-कभी मामलात (सम्बन्धों) में जो उलझनें पैदा हो जाती हैं वे स्वतः ख़त्म होती चली जाएंगी और क़र्ज़ सम्बन्धों की ख़राबी का कारण नहीं बनेगा।

बदला लेने का अधिकार मगर माफ़ कर देना बेहतर

मानव-प्रकृति और बदला लेने की भावना

यदि किसी के साथ ज़ुल्म और अत्याचार हो और उसके अधिकार का हनन हो तो उसके अन्दर स्वाभाविक रूप से दुख, क्रोध और बदले की भावना उभर आती है। वह चाहता है कि उसके साथ जो ज़्यादती हुई है उसका बदला ले और जिसने उसे नुक़सान पहुँचाया है वह भी उसे नुक़सान पहुँचाए।

कुछ लोग समझते हैं कि यह एक हैवानी जज़्बा (पाशविक भावना) है। इसे दबाया जाना चाहिए, वरना इनसान की इनसानियत को आघात पहुँचेगा और वह पशु-तुल्य हो जाएगा, परन्तु इस भावना को हैवानी या ग़ैर-इनसानी जज़्बा कहकर ख़त्म नहीं किया जा सकता। इसलिए कि यह जज़्बा इनसान के स्वभाव में शामिल है। यदि किसी दबाव और मजबूरी के कारण वह बदला न ले सके तो उसपर तीव्र प्रतिक्रिया होती है। उसके अन्दर दुश्मनी, नफ़रत, चिढ़ और ईर्ष्या जैसे जज़बात पनपने लगते हैं और एक प्रकार की हीन भावना उसे घोर मानसिक उलझनों में उलझाए रखती है। फिर जब उसे अवसर मिलता है तो अपनी प्रतिशोध की ज्वाला को बुझाने के लिए वह सब कुछ कर गुज़रता है जो एक इनसान की हैसियत से उसे नहीं करना चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि हैवान (पशु) के अन्दर भी बदले की भावना मौजूद है, परन्तु हर वह भावना जो इनसान के साथ हैवान में भी पाई जाए ग़लत और घृणा करने योग्य नहीं है। भूख, प्यास और यौन-इच्छा इनसान और हैवान दोनों में है। दोनों व्यक्तिगत और आनुवंशिक विकास के लिए इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए विवश हैं। इनसान के लिए इनमें से किसी भी इच्छा की पूर्ति को इस कारण ग़लत या नापसन्दीदा नहीं कहा जा सकता कि वह हैवान में भी पाई जाती है। अलबत्ता इनसान एवं

न का अन्तर यह है कि हैवान अपनी इच्छाओं की पूर्ति सिर्फ़ अपनी ।रत की माँग के तहत स्वतन्त्र रूप से करता है और इनसान इस ।न्ध में नैतिकता और क़ानून का पाबन्द होता है।

क्रोध और प्रतिशोध की भावना का होना इनसान के विकास और ।ा के लिए ज़रूरी है। इससे वह अपने ऊपर होनेवाले ज़ुल्म और ।ाचार को रोकता और अपने अधिकारों की रक्षा करता है। इस ।ना की कमी से इनसान कभी-कभी बेहिस (संवेदनाहीन) और बेग़ैरत स्वाभिमानी) हो जाता है और ज़ुल्म के आगे आसानी से हथियार डाल की प्रवृत्ति उसके अन्दर पैदा हो जाती है। यह भावना यदि पूर्णतः के अन्दर से समाप्त हो जाए तो कोई भी निरंकुश और अत्याचारी उसे ।ानी से अपने ज़ुल्म का निशाना बना सकता और उसके अधिकारों छीन सकता है।

यह एक हक़ीक़त है कि ज़ुल्म और अत्याचार का बदला लेकर ।ान मनोवैज्ञानिक रूप से सन्तुष्टि अनुभव करता है। इस सन्तुष्टि को । का उसे प्राकृतिक अधिकार है। क़ानून की ज़रूरत और अहमियत से ई इनकार नहीं कर सकता— वह भी अपने तरीक़े से अत्याचारी को डत कर मज़लूम को मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि देने का प्रयास करता है। प्रकार वह जहाँ एक सामाजिक कर्त्तव्य पूरा करता है वहीं मज़लूम की ।शोध की भावना को भी सन्तुष्ट करता है। स्पष्ट है, क़ानून के शासन इसलिए ग़लत नहीं कहा जा सकता और अराजकता की इजाज़त नहीं जा सकती कि इससे मज़लूम की प्रतिशोध की भावना शान्त होती है।

।ला लेने की भावनाः इस्लाम की नज़र में

इस्लाम बदला लेने की भावना को एक प्राकृतिक भावना के रूप में कार करता है और मज़लूम को ज़ालिम से बदला लेने की इजाज़त । है। उसने अल्लाह के नेक बन्दों की एक विशेषता यह बताई—

> "और जब उनपर ज़्यादती होती है तो वे बदला लेते हैं।"
>
> (क़ुरआन, 42:39)

सवाल यह है कि क्या किसी से बदला लेना प्रशंसनीय है कि ।लाह के नेक बन्दों की विशेषताओं एवं गुणों के सन्दर्भ में इसका

ज़िक्र किया जाए? अल्लामा इब्ने-जरीर तबरी *(रह.)* फ़रमाते हैं—

"ज़ालिम को सीधे रास्ते पर लाना और क़ायम रखना तथा जिस सज़ा का वह भागी बना है उसे वह सज़ा देना वास्तव में उसे ठीक करना है, इसकी तारीफ़ और प्रशंसा ही की जाएगी।" (तफ़्सीर इब्ने-जरीर)

हाफ़िज़ इब्ने-कसीर *(रह.)* आयत का मतलब इस प्रकार बयान व हैं—

"जो व्यक्ति ज़ुल्म-ज़्यादती करे, अल्लाह के नेक बन्दों में उनसे बदला लेने की शक्ति है, वे बेबस और असमर्थ नहीं हैं कि बदला न ले सकें, बल्कि इसकी शक्ति और सामर्थ्य रखते हैं।" (तफ़्सीर इब्ने-कसीर)

अल्लामा अबू-सऊद *(रह.)* कहते हैं—

"अल्लाह ने उनके अन्दर (आत्मसम्मान) की ऐसी भावना रखी है कि वे दूसरों के सामने झुकने और अपमानित होने से घृणा करते हैं। इसलिए यदि कोई उनके साथ ज़ुल्म-ज़्यादती करे तो वे उससे बदला लेते हैं। यह वास्तव में दूसरी बड़ी-बड़ी ख़ूबियों के साथ उनकी बहादुरी का उल्लेख है।" (तफ़सीर अबू-सऊद)

इसी वजह से हज़रत इबराहीम नख़ई *(रह.)* फ़रमाते हैं—

"हमारे पूर्वज इस बात को नापसन्द करते थे कि ईमानवाले (अर्थात मुसलमान) इस प्रकार तुच्छ और पस्त बनकर रहें कि अल्लाह के नाफ़रमानों और फ़ासिक़ों (अवज्ञाकारियों) के हौसले बढ़ जाएँ और वे उनपर ज़्यादती करने लगें। अलबत्ता जब उन्हें ताक़त मिलती है तो वे माफ़ कर देते हैं।" (हदीस : बुख़ारी)

बदला लेने में ज़्यादती पर रोक

कभी-कभी ज़ुल्म-ज़्यादती के ख़िलाफ़ इतनी तीव्र भावना जागृत ह है कि बदले की आग बुझाने के लिए इनसान सारी नैतिक और क़ा सीमाओं को पार कर जाता है। इसके बड़े ही ख़तरनाक परिणाम नि सकते हैं और निकलते रहे हैं। अतीत में जब भी इसपर अंकुश लगाया गया, मज़लूम ने ज़ालिम की जगह ले ली और खुद ज़ुल्म बाज़ार गर्म करने लगा। क्रोध, घृणा और प्रतिशोध की एक नई लहर

मज़लूम ने ज़ालिम बनकर वह सब कुछ किया जिसकी उसे शिकायत और जिसके विरुद्ध उसने संघर्ष छेड़ा था। इस्लाम मज़लूम के इस कार को तो स्वीकार करता है कि वह ज़ालिम से बदला ले सकता है, ु इस बात का आदेश देता है कि जितनी ज़्यादती हुई है उतना ही ा लिया जा सकता है। इससे ज़्यादा की किसी हाल में उसे इजाज़त है। ज़ुल्म-ज़्यादती की बहुत-सी शक्लें हैं, परन्तु उन सभी को दो ा शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। एक वह ज़्यादती है जो ान के शरीर और माल के साथ की जाए और उसे शारीरिक अथवा र्थिक घाटे में डाला जाए। दूसरे वह ज़्यादती जो ज़बान से की जाती जैसे अशोभनीय बात कहना, चुग़ली, ग़ीबत (पीठ पीछे निन्दा) दि। क़ुरआन और हदीस में सैद्धान्तिक रूप से सामान्य अन्दाज़ में यत की गई है कि आदमी के साथ जिस हद तक ज़्यादती हुई है, ा लेने में वह उससे आगे न बढ़े। कहीं आर्थिक और शारीरिक दती की चर्चा है और कहीं ज़बानी-ज़्यादती की। अब हम इन दोनों ही ुओं पर अलग-अलग थोड़े विस्तार से चर्चा करेंगे।

र्थिक और शारीरिक बदला लेने में ज़्यादती न हो

क़ुरआन ने एक जगह प्रतिशोध की इजाज़त देते हुए निर्देश दिया—

> "जो तुमपर ज़्यादती करे, तुम भी उसपर उसी जैसी ज़्यादती कर सकते हो जैसी कि उसने तुमपर ज़्यादती की है। और अल्लाह से डरते रहो और यह जान लो कि अल्लाह उन लोगों के साथ है जो उसकी नाफ़रमानी (अवज्ञा) से बचते हैं।"
>
> (क़ुरआन, 2:194)

यह आयत जिहाद के सन्दर्भ में आई है कि जो महीने मुहतरम (जंग लिए अवैध) हैं उनके एहतिराम को नज़रअन्दाज़ करके दुश्मन तुमसे करें तो तुम्हें भी उसी अनुपात में जवाब देने का हक़ है।

एक दूसरे स्थान पर क़ुरआन में आया है—

> "यदि तुम बदला लो तो उतना ही बदला लो जितनी तुम पर ज़्यादती हुई है, परन्तु यदि सब्र करो तो यह सब्र करनेवालों के हक़ में बेहतर है।" (क़ुरआन, 16:126)

यह आयत इस्लाम के प्रचार-प्रसार के सिद्धान्त एवं आचार के

सन्दर्भ में आई है। इमाम राज़ी *(रह.)* फ़रमाते हैं—

> "दीन की दावत देनेवालों को उनके विरोधी क़त्ल करने की भी कोशिश कर सकते हैं। मार-पीट और गाली-गलौज के भी वे शिकार बन सकते हैं। उस समय दावत देनेवाले के अन्दर जवाब देने और मुक़ाबला करने की भावना उभर सकती है। इसलिए हिदायत की गई है कि इस स्थिति में वे न्याय और इनसाफ़ पर डटे रहें और ख़ुद ज़ुल्म और अत्याचार का रास्ता न अपनाएँ।" (तफ़्सीर अल-कबीर)

ज़बान से बदला लेने में ज़्यादती न की जाए

अब ज़बान से होनेवाली ज़्यादतियों को लीजिए। एक व्यक्ति वि को अपनी ज़बान से कष्ट पहुँचाए तो उसे भी केवल इसी हद तक ब लेने की इजाज़त है जिस हद तक उसे तकलीफ़ पहुँचाई गई है। क़ुर की यह आयत ऊपर गुज़र चुकी है—

> "अल्लाह को पसन्द नहीं कि किसी बुरी बात का ज़िक्र किया जाए, लेकिन जिस व्यक्ति पर ज़ुल्म हो (वह इसका इज़हार कर सकता है) और अल्लाह सुननेवाला व जाननेवाला है।"
>
> (क़ुरआन, 4:148)

इसमें जहाँ मज़लूम को यह अधिकार दिया गया है कि वह अ ऊपर होनेवाले ज़ुल्म को खुलकर व्यक्त कर सकता है वहीं यह हक़ी स्पष्ट करके कि अल्लाह सुननेवाला और जाननेवाला है इस अधिकार ग़लत इस्तेमाल से रोका भी है। मतलब यह कि अल्लाह से कोई व छिपी हुई नहीं है। वह उन शब्दों को भी सुन रहा है जो तुम्हारी ज़ब से निकलते हैं और उन भावनाओं और संवेदनाओं से भी वाक़िफ़ है तुम्हारे सीनों में छिपी हुई हैं, इसलिए यदि तुमने अपनी जाइज़ हद बाहर क़दम रखा तो वह तुम्हारी पकड़ कर सकता है। इस प्रकार अल्ल के 'सुननेवाला व जाननेवाला' का ज़िक्र करके बदले के अधिकार ग़लत इस्तेमाल और ज़ालिमाना रवैया अपनाने से रोका गया है। इम राज़ी यहाँ पर अल्लाह की इन विशेषताओं और गुणों का भावार्थ बर करते हुए लिखते हैं—

> "आयत में मज़लूम को जिस ज़ुल्म के इज़हार व एलान की इजाज़त दी गई है, इन विशेषताओं एवं गुणों का उल्लेख करके

उसमें हद से बढ़ने पर रोक लगाई गई है, यानी यह कि आदमी अल्लाह से डरे और केवल सत्य बात कहे, और किसी पर तोहमत (मिथ्यारोप) न लगाए वरना वह गुनाहगार होगा। जो कुछ वह कह रहा है अल्लाह उसे सुन रहा है और वह जो कुछ दिल में छिपाए हुए हैं उसे वह जानता है।"

(तफ़्सीर अल-कबीर)

हदीस में यह बात ज़्यादा स्पष्टता के साथ कही गई है। हज़रत ्रू-हुरैरा *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने ़माया–

"एक-दूसरे को गाली-गलोच करनेवालों ने जो कुछ कहा उसका गुनाह इसकी शुरुआत करनेवाले पर है, जब तक कि मज़लूम (जवाब में) हद से आगे न बढ़े।" (हदीस : मुस्लिम)

इमाम नव्वी (रह.) फ़रमाते हैं–

"इस हदीस से यह बात निकलती है कि बदला लेना जाइज़ है, इसके जाइज़ होने में कोई मतभेद नहीं है। इसपर क़ुरआन और सुन्नत की बहुत-सी दलीलें मौजूद हैं।" (शरह मुस्लिम)

इमाम ग़ज़ाली *(रह.)* फ़रमाते हैं–

"इस हदीस में आप *(सल्ल.)* ने मज़लूम के लिए बदला लेने के अधिकार की पुष्टि फ़रमाई है, जब तक कि वह ज़्यादती न करें।" (अहयाए-उलूमुद्दीन)

दला लेने में शरीअत की सीमाओं की पाबन्दी

इस्लाम ने बदला लेने में एक शर्त तो यह रखी है कि वह उसी सीमा होगा जिस सीमा में ज़्यादती हुई है। यह नहीं होगा कि कोई व्यक्ति प्पड़ मारे तो उसकी जान ले ली जाए। दूसरी शर्त यह है कि आदमी दला लेने में अख़लाक़ (नैतिकता) और शरीअत की सीमाओं का पाबन्द – उसका उल्लंघन अथवा अतिक्रमण न करे। इमाम नव्वी *(रह.)* रमाते हैं–

"किसी ईमानवाले के साथ ज़बानदराज़ी (बुरा-भला कहना) और गाली-गलोच करना हराम है। अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* का इर्शाद है "मुसलमान को गाली देना फ़िस्क़ है।"–

इमाम ग़ज़ाली *(रह.)* फ़रमाते हैं—

> "प्रत्येक ज़ुल्म के प्रतिकार में उसी प्रकार की कार्रवाई नहीं की जा सकती। ग़ीबत (पीठ पीछे निन्दा) के जवाब में ग़ीबत, तजस्सुस (टोह लेना/भेद लेना) के जवाब में तजस्सुस, गाली-गलोच के जवाब में गाली-गलोच सही नहीं है। यही मामला अन्य गुनाहों का है कि उनके जवाब में उसी प्रकार के गुनाह नहीं किए जा सकते। क़िसास (क़त्ल का बदला) और तावान (आर्थिक नुक़्सान का बदला) भी उसी हद तक लिया जाएगा जिस हद तक शरीअत ने इजाज़त दी है।"
>
> (अहयाए-उलूमुद्दीन)

इस सन्दर्भ में क्षमा और दरगुज़र को ज़्यादा बेहतर क़रार देते हु बयान करते हैं—

> "जिन लोगों ने बदला लेने को जाइज़ क़रार दिया है उन्होंने यह शर्त रखी है कि आदमी झूठ और ग़लतबयानी से काम न ले। ज़्यादती करनेवाले के लिए आदमी इस प्रकार के शब्द और वाक्य प्रयोग कर सकता है, जैसे अमुक की औलाद, मूर्ख, दुराचारी, लोगों की इज़्ज़त-आबरू से खेलनेवाला, यदि शर्म होगी तो नहीं बोलोगे, अल्लाह तुम्हें ज़लील और रुसवा करे (अपमानित करे), तुम अपनी हरकतों के कारण मेरे निकट बिल्कुल तुच्छ हो आदि। बाक़ी रहा, चुगली, ग़ीबत, झूठे आरोप, उसके माँ-बाप को बुरा-भला कहना तो ये सर्वसम्मति से सबके निकट हराम है।"[1]

अतः कहा जा सकता है कि मज़लूम को बदला लेने का अधिक ज़रूर हासिल है, परन्तु यह अधिकार बिना शर्त और अबाध नहीं बल्कि कुछ सीमाओं का पाबन्द है। यदि मज़लूम उन सीमाओं को तोड़ब बदला लेने लगे तो इस्लाम की नज़र में वह ख़ुद भी ज़ालिम की पंक्ति शामिल हो जाएगा और उसके साथ वही मामला किया जाएगा जो कि ज़ालिम के साथ किया जाता है।

---

1. इमाम ग़ज़ाली (रह.) कहते हैं कि गाली-गलोच का जवाब दिया सकता है, लेवि जवाब न देना ज़्यादा बेहतर है। इसलिए कि उन हदों की पाबन्दी बहुत मुश्वि है। इसके मुक़ाबले में आसानी यह है कि आदमी ख़ामोश ही रहे।

   (अहयाए-उलूमुद्दी

   माफ़ करना बेहतर है और बदला लेने की कुछ हदें हैं, इन बातों को मानने बावजूद बदला लेने का हक़ बहरहाल बाक़ी रहेगा, उसको ख़त्म नहीं किया सकता।

फ़ और दरगुज़र करने का अधिकार

जिस व्यक्ति के साथ ज़ुल्म और अत्याचार हो उसे माफ़ और ुज़र (अनदेखा) करने का भी अधिकार है। शायद इस विषय की दा सही व्याख्या यह हो कि प्रतिशोध एक क़ानूनी अधिकार है और ़ और दरगुज़र करना उस अधिकार से दस्तबरदार हो जाने का नाम है।

इमाम ग़ज़ाली *(रह.)* क्षमा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

> "माफ़ करना यह है कि आदमी किसी हक़ का हक़दार हो और वह अपने हक़ (अधिकार) को छोड़ करके (अपराधी को) क़िसास या तावान से मुक्त कर दे।" (अह्याए-उलूमुद्दीन)

फ़ करना पसन्दीदा है

क़ुरआन ने माफ़ और दरगुज़र करने को पसन्दीदा अमल के रूप में ा किया है। वह केवल यही नहीं कि ज़ुल्म का बदला लेने में हद से ़गे बढ़ने से रोकता है, बल्कि माफ़ और दरगुज़र करने के लिए प्रेरित रता है। वह मज़लूम के इस अधिकार को तो स्वीकार करता है कि वह लिम से बदला ले सकता है, परन्तु वह इनसान को नैतिकता के उस ख़र पर देखना चाहता है जहाँ वह बड़े-से-बड़े ज़ुल्म को भूलकर सदव्यवहार रने लगता है। इसे वह परिणाम की दृष्टि से बदला लेने की अपेक्षा ादा लाभदायक और अच्छा समझता है। यह आयत ऊपर गुज़र चुकी पुनः इस पर ग़ौर कीजिए—

> "और यदि बदला लो तो उतना ही बदला लो जितनी तुमपर ज़्यादती हुई है। परन्तु यदि सब्र करो तो यह सब्र करनेवालों के हक़ में बेहतर है।" (क़ुरआन, 16 : 126)

हाफ़िज़ इब्ने-कसीर *(रह.)* फ़रमाते हैं—

> "आयत में क़िसास (क़त्ल का बदला) लेने में न्याय और बराबरी का हुक्म दिया गया है और यह बताया गया है कि किसी की कोई चीज़ छिन जाए तो उसे लेने में समानता होनी चाहिए।" आगे कहते हैं, "यह और इस प्रकार की दूसरी आयतों में न्याय को क़ानून और शरीअत का दर्जा देने के साथ फ़ज़्ल (मेहरबानी) और एहसान (उपकार) की प्रेरणा दी गई है।"
>
> (तफ़्सीर इब्ने-कसीर)

जस्सास *(रह.)* कहते हैं—

> "आयत बताती है कि क़ातिल और ज़्यादती करनेवाले से बदला लेने की अपेक्षा माफ़ कर देना ज़्यादा श्रेष्ठ है।"
>
> (अहकामुल-क़ुरआन)

माफ़ करना अल्लाह के नेक बन्दों की विशेषता

अल्लाह के नेक बन्दों में बहुत-से गुण होते हैं। उनके एक बड़े ग़ु का उल्लेख क़ुरआन इस प्रकार करता है—

> "वे ग़ुस्से (क्रोध) को पी जाते हैं और लोगों को माफ़ कर देते हैं।" (क़ुरआन, 3:124)

माफ़ करनेवालों को अल्लाह माफ़ करता है

इस दुनिया में इनसान से बड़ी-बड़ी ग़लतियाँ होती रहती हैं उ अल्लाह अपनी मेहरबानी से उन ग़लतियों को माफ़ करता रहता है। य वह उसकी हर ग़लती पर पकड़ करे तो उसका ज़िन्दा रहना मुश्किल अल्लाह इनसान के अन्दर भी माफ़ और दरगुज़र करने की यही ख़ू (गुण) देखना चाहता है। एक इनसान अपने जैसे दूसरे इनसानों के स जैसा व्यवहार करता है अल्लाह उसके साथ भी उसी प्रकार का माम करता है। अतः वह दूसरों की ग़लतियों को माफ़ करे तो उम्मीद है वह अल्लाह की क्षमा और दयालुता का पात्र होगा और वह उस त्रुटियों और कोताहियों से दरगुज़र फ़रमाएगा। मज़लूम को ज़ालिम खिलाफ़ आवाज़ उठाने का क़ुरआन ने जहाँ हक़ दिया है, वहीं यह ब इस तरह कही है—

> "यदि तुम कोई भलाई खुल्लम-खुल्ला करो या गुप्त रूप से करो, या बुराई को माफ़ कर दो तो (यह बड़ी ख़ूबी की बात है) बेशक अल्लाह भी बड़ा माफ़ करनेवाला और क़ुदरत (सामर्थ्य) वाला है।" (क़ुरआन, 4 : 149)

एक जगह सामाजिक निर्देशों के सन्दर्भ में फ़रमाया—

> "यदि तुम माफ़ कर दो और दरगुज़र कर जाओ और बख़्श दो तो अल्लाह (भी) बख़्शनेवाला और रहम करनेवाला है।"
>
> (क़ुरआन, 64 : 14)

क्रोध और प्रतिशोध की भावना में कभी-कभी इनसान बड़े कठोर क़दम उठा लेता है जो जाइज़ होने के बावजूद पसन्दीदा नहीं कहे जा सकते। क़ुरआन की सूरा-24, नूर में उनसे बचने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि यदि तुम चाहते हो कि अल्लाह तुम्हें अपनी क्षमा और दया से पुरस्कृत करे तो उसके बन्दों की ज़्यादतियों से दरगुज़र करो। देखिए कितनी सुन्दर शैली में यह बात रखी गई है–

"तुममें से जो लोग बुज़ुर्गी और वुसअत वाले (सामर्थ्यवान) हैं वे इस बात की क़सम न खा बैठें कि रिश्तेदारों, मिस्कीनों (ग़रीबों) और अल्लाह की राह में हिजरत करनेवालों की मदद नहीं करेंगे। उन्हें माफ़ कर देना और दरगुज़र कर देना चाहिए। क्या तुम नहीं चाहते कि अल्लाह तुम्हें माफ़ कर दे। अल्लाह ग़फ़ूर (क्षमाशील) व रहीम (दयालु) है।" (क़ुरआन, 24 : 22)

इस आयत के अवतरित होने का सन्दर्भ बताते हुए हदीस की किताबों में एक घटना का बयान हुआ है। हज़रत मिस्तह *(रज़ि.)* एक निर्धन व्यक्ति थे। बचपन में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई थी। मक्के में वे और उनकी माँ इस्लाम ले आए। हिजरत करके मदीना गए। बद्र की जंग में सम्मिलित रहे। नेक और निष्ठावान सहाबी थे। हज़रत अबू-बक्र *(रज़ि.)* से उनकी रिश्तेदारी थी। उनकी ग़रीबी और रिश्तेदारी के कारण हज़रत अबू-बक्र *(रज़ि.)* उनका ख़र्च वहन करते थे। सच्चे-पक्के मुसलमान होने के बावजूद 'इफ़्क' की घटना के समय उनसे ग़लती हो गई। हज़रत आइशा *(रज़ि.)* एक ग़ज़वे (जंग) में वापसी के समय जब पीछे रह गईं और एक सहाबी के साथ वापस आईं तो इसपर मुनाफ़िक़ों (कपटाचारियों) ने कानाफूसी शुरू कर दी और कुछ ने तोहमत लगा दी। ये (हज़रत मिस्तह) भी अपने सरल स्वभाव के कारण इस अफ़वाह से प्रभावित हो गए। हज़रत अबू-बक्र *(रज़ि.)* को इससे अत्यन्त दुख पहुँचा। फ़रमाया–

"ख़ुदा की क़सम अब आगे कभी इस व्यक्ति पर अपना पैसा ख़र्च नहीं करूँगा।"

रिवायतों में आता है कि इसके बाद सूरा नूर की उपरोक्त आयतें अवतरित हुईं। हज़रत अबू-बक्र *(रज़ि.)* ने आयत सुनी तो फ़रमाया–

"अल्लाह की क़सम मैं तो यही चाहता हूँ कि अल्लाह मेरे गुनाह माफ़ कर दे।"

इसके बाद हज़रत मिस्तह *(रज़ि.)* का ख़र्च पुनः देने लगे। कुछ रिवायतों में आता है कि ख़र्च अब दुगना कर दिया और कहा कि अब कभी इनका ख़र्च बन्द नहीं करूँगा।

हदीस में दरगुज़र की प्रेरणा

अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* की हदीसों में माफ़ कर देने और दरगुज़र करने पर बहुत ज़ोर है और इसकी बड़ी फ़ज़ीलत (श्रेष्ठता) बयान हुई है। इस पर विभिन्न तरीक़ों से उभारा गया है। हज़रत अबू-हुरैरा *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "सदक़ा और ख़ैरात (दान) से धन में कभी कमी नहीं आती। क्षमा और दरगुज़र के कारण अल्लाह बन्दे की इज़्ज़त में बढ़ोतरी फ़रमाता है और जो अल्लाह के लिए (निष्ठापूर्वक) विनम्रता और सहजता अपनाए उसे बड़ाई और बुलन्दी प्रदान करता है।" (मुस्लिम)

इसी भावार्थ की एक रिवायत अबू-कब्शा अनमारी *(रज़ि.)* से आई है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने क़सम खाकर फ़रमाया—

> "सदक़े से बन्दे का माल कम नहीं होता, किसी बन्दे पर ज़ुल्म हो और वह उसपर सब्र करे तो अल्लाह ज़रूर उसकी इज़्ज़त में इज़ाफ़ा करता है, जो व्यक्ति सवाल के दरवाज़े खोले (माँगना शुरू कर दे) तो अल्लाह उसपर अवश्य ही निर्धनता और मोहताजी का दरवाज़ा खोल देता है।" (हदीस : तिर्मिज़ी)

उक़बा-बिन-आमिर *(रज़ि.)* रिवायत करते हैं कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "जो तुमसे सम्बन्ध विच्छेद करे उससे नाता जोड़ो, जो तुम्हें (तुम्हारे हक़ से) वंचित करे उसे (उसका हक़) प्रदान करो और जो तुमपर ज़्यादती करे उसे माफ़ कर दो।"
>
> (हदीस : मुस्नद अहमद)

ग़ुस्से पर क़ाबू पाने का माहात्म्य (फ़ज़ीलत)

प्रतिशोध का एक बड़ा उत्प्रेरक क्रोध है। जब किसी के खिलाफ़ इनसान के अन्दर क्रोध की भावना जागृत होती है तो वह प्रतिशोध के द्वारा उसे अभिव्यक्त करना चाहता है। इस उत्प्रेरक पर मात्र अल्लाह की

प्रशंसा के लिए क़ाबू पाना और ग़ुस्से को पी जाना बहुत बड़ा सवाब (पुण्य) का काम है। हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "ग़ुस्से के उस घूँट से बड़े सवाबवाला दूसरा घूँट नहीं जिसे बन्दा अल्लाह की प्रसन्नता के लिए पी जाए।"
>
> (हदीस : इब्ने-माजा)

प्रतिशोध की शक्ति रखने के बावजूद यदि आदमी दरगुज़र से काम ले तो उसका बदला व सवाब भी उतना ही बड़ा है। हज़रत मुआज़-बिन-अनस जुहनी *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया—

> "जो व्यक्ति ग़ुस्से को पी जाए जबकि वह उसके अनुसार कार्रवाई करने की सामर्थ्य रखता हो तो अल्लाह उसे अपनी सारी सृष्टि के सामने बुलाएगा और उसे अधिकार देगा कि वह जिस हूर (अप्सरा) का चाहे चयन कर ले।"
>
> (हदीस : अबू-दाऊद)

ग़ुस्सा किसी अशोभनीय कारण से पैदा होता है। अल्लाह की प्रशंसा पाने के लिए इस कड़वे घूँट को पीकर इनसान उसकी असीम दया का पात्र बन जाता है।

क्षमा और प्रतिशोध का महत्व परिस्थितियों पर निर्भर है

क़ुरआन और हदीस के अनुसार जब नैतिक-श्रेष्ठता यह है कि आदमी ग़ुस्से को पी जाए और ज़ुल्म को माफ़ कर दे तो फिर प्रतिशोध का ईमानवालों के एक अच्छे गुण के रूप में क्यों उल्लेख किया गया? क्या दोनों बातों में विरोधाभास नहीं है? इसका जवाब यह है कि इनसान की ज़िन्दगी प्रतिशोध और क्षमा दोनों की माँग करती है। कभी प्रतिशोध की ज़रूरत होती है और कभी तक़ाज़ा होता है कि माफ़ी और दरगुज़र से काम लिया जाए। परिस्थिति के अनुसार इनमें से हर एक का महत्व है। जहाँ प्रतिशोध लेना चाहिए वहाँ क्षमा की प्रशंसा नहीं की जा सकती और जिस जगह दरगुज़र करना अपेक्षित हो वहाँ प्रतिशोध को पसन्दीदा नहीं कहा जा सकता।

अल्लामा अबू-बक्र जस्सास *(रह.)* कहते हैं—

"क्षमा और दरगुज़र उस अवसर के लिए है जबकि अपराधी अपनी हरकत पर नादिम (लज्जित) हो और उससे रुक जाए, बाक़ी रहा वह व्यक्ति जो ज़ुल्म और अत्याचार पर अड़ा रहे उससे बदला लेना ही बेहतर है।" (अहकामुल-क़ुरआन)

इमाम राज़ी *(रह.)* फ़रमाते हैं—

"क्षमा और दरगुज़र का नतीजा दो तरीक़े से ज़ाहिर हो सकता है। एक यह कि विवाद दब जाए और अपराधी अपनी ग़लती मान ले। यह भी सम्भव है कि क्षमा करने से उसकी हिम्मत में और बढ़ोत्री हो और वह ज़्यादा ग़लत काम करने लगे। क्षमा और दरगुज़र का सवाब पहली स्थिति में है। दूसरी स्थिति में प्रतिशोध या प्रतिकार ही श्रेष्ठ और पसन्दीदा है।"

(तफ़्सीर कबीर)

अल्लामा अबू-सऊद *(रह.)* कहते हैं—

"ईमानवालों की एक विशेषता यह बयान की गई है कि वे उन लोगों से बदला लेते हैं जो उनके साथ ज़्यादती करते हैं। इसके साथ यह भी कहा गया है कि वे माफ़ कर देते हैं। इन दोनों में कोई विरोधाभास नहीं है इसलिए कि इनमें से प्रत्येक विशेषता अपनी-अपनी जगह पसन्दीदा है, परन्तु जब इन विशेषताओं को विपरीत जगहों पर अपनाया जाए तो वे निन्दनीय और नापसन्दीदा हो जाती हैं।" (तफ़्सीर अबू-सऊद)

दरगुज़र करना मज़लूम का ऐच्छिक अधिकार है

ज़ालिम को माफ़ करने का हक़ क्या केवल मज़लूम को है या हुकूमत और रियासत भी उसे माफ़ कर सकती है। दुनिया ने हमेशा हुकूमत और रियासत को बड़े-से-बड़े ज़ालिम को माफ़ करने का हक़ दिया है। इसी कारण यदि कोई व्यक्ति किसी पर ज़्यादती करे और हुकूमत उसे माफ़ कर दे तो मज़लूम को बदला लेने या इनसाफ़ पाने का हक़ शेष नहीं रहता। परन्तु यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक यह कि जिस प्रकार मज़लूम अपने नफ़ा-नुक़सान को महसूस करता है, उस प्रकार कोई अन्य व्यक्ति अथवा संस्था उसे महसूस नहीं कर सकती।

इसलिए स्वाभाविक रूप से क्षमा, दरगुज़र और प्रतिशोध का हक़ मज़लूम (पीड़ित) को मिलना चाहिए। दूसरे यह कि हुकूमत ने क्षमा और दरगुज़र के अधिकार को अनुचित तरीक़े से इस्तेमाल किया है और जिन लोगों को हुकूमत का समर्थन प्राप्त रहा है उन्होंने कमज़ोरों पर बेपनाह ज़ुल्म किए हैं। इस्लाम के निकट क्षमा और दरगुज़र का सम्बन्ध उस व्यक्ति से है जिसपर ज़्यादती हो। वही उसे माफ़ कर सकता है। यदि किसी ने किसी पर ज़ुल्म किया है तो उसे बदला लेने का अधिकार भी प्राप्त है और माफ़ कर देने का भी। उसके अधिकार को कोई अन्य व्यक्ति अथवा संस्था– चाहे वह हुकूमत ही क्यों न हो– छीन नहीं सकती[1]।

सारांश

इस्लाम के नज़दीक मज़लूम को ज़ुल्म के प्रतिशोध तथा क्षमा और दरगुज़र दोनों का अधिकार है। वह यदि बदला ले तो अपने एक क़ानूनी हक़ का इस्तेमाल करता है। क़ानून केवल यह देखेगा कि वह बदले की कार्रवाई में शरीअत की सीमाओं से आगे न बढ़े। और माफ़ कर दे तो यह उसका एहसान (उपकार) है, लेकिन एहसान के लिए किसी को मजबूर नहीं किया जा सकता। किसी के क़ानूनी हक़ को स्वीकार करके माफ़ी तलब करने और सिरे से उसके हक़ से ही उसे पूर्णतः वंचित कर देने में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। पहली स्थिति में इनसान के अन्दर आत्मविश्वास एवं उच्च संस्कार पैदा होता है और दूसरी स्थिति में उसका आत्मविश्वास घटता है और वह हीनता का शिकार हो जाता है। क़ुरआन ने इस मामले के सभी नैतिक और और क़ानूनी पहलुओं को तीन आयतों में समेट दिया है।

> "(ईमानवाले वे हैं) कि जब उनपर ज़्यादती की जाती है तो उसका बदला लेते हैं। बुराई का बदला उसी जैसी बुराई है। फिर जो व्यक्ति माफ़ कर दे और इस्लाह करे उसका अज्र (अच्छा बदला) व सवाब अल्लाह के ज़िम्मे है। बेशक अल्लाह

1. यहाँ शरीअत के अनुसार वे हुदूद (सज़ाएँ) अपवाद हैं जिन्हें वह व्यक्ति भी माफ़ नहीं कर सकता जिसके साथ ज़्यादती हुई है।

ज़ालिमों को पसन्द नहीं करता। जो लोग अपने ऊपर ज़ुल्म होने के बाद बदला लें उन्हें मलामत नहीं की जा सकती। मलामत (बुरा-भला कहे जाने) के हक़दार तो वे हैं जो दूसरों पर ज़ुल्म करते और ज़मीन पर नाहक़ ज़्यादतियाँ करते हैं। उनके लिए दर्दनाक अज़ाब है। और जो व्यक्ति सब्र करे और माफ़ कर दे तो यह बड़े साहस के कामों में से है।"

(क़ुरआन, 42:39-41)

इस्लाम ने मज़लूम को क़ानूनी दृष्टि से इतना मज़बूत स्थान दिया है कि वह किसी बाहरी दबाव के बिना अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ज़ुल्म के ख़िलाफ़ जवाबी कार्रवाई कर सकता है। वह ज़िन्दगी के किसी भी मरहले में विवश और लाचार होने के एहसास से मुक्त रहता है। उसे आशंका नहीं रहती कि उसके अधिकार असुरक्षित हैं और वह किसी भी दमनकारी और अत्याचारी के अत्याचार का निशाना बन सकता है। इसी के साथ इस्लाम मज़लूमियत के नाम पर किसी को जाइज़ हुदूद (वैध सीमा) से आगे बढ़ने से मना करता है। साथ ही इनसान के अन्दर अख़लाक़ (नैतिकता) की वह बुलन्दी पैदा करता है जो उसे फ़रिश्तों की पंक्ति में खड़ा होने योग्य बना दे।



जनसेवा और इस्लाम	मौलाना सय्यद जलालुद्दीन उमरी
दौलत में ख़ुदा और बन्दों का हक़	मौलाना सय्यद जलालुद्दीन उमरी
नारी और इस्लाम	मौलाना मक़बूल अहमद फ़लाही
परलोक की छाया में	मौलाना मुहम्मद फ़ारूक़ ख़ाँ
परिवार इस्लाम की नज़र में	मौलाना सय्यद जलालुद्दीन उमरी
बच्चे और इस्लाम	मौलाना सय्यद जलालुद्दीन उमरी
लोगोः हिसाब का समय निकट आ चुका है	मौलाना सय्यद जलालुद्दीन उमरी
हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) जीवन और सन्देश	मौलाना सय्यद जलालुद्दीन उमरी
हमारा देश किधर जा रहा है?	मौलाना सय्यद जलालुद्दीन उमरी
रिसालत	मौलाना मुहम्मद फ़ारूक़ ख़ाँ
इस्लाम एक नज़र में	मौलाना सदरुद्दीन इस्लाही
क़ुरआन और आधुनिक विज्ञान	डॉ॰ मौरिस बुकैले
क़ुरआन मजीद का परिचय	मौलाना सदरुद्दीन इस्लाही
जीवन मृत्यु के पश्चात्	मौलाना सय्यद अबुल-आला मौदूदी
नमाज़	मौलाना नसीम ग़ाज़ी फ़लाही
नशाबन्दी और इस्लाम	मौलाना अबुल्लैस इस्लाही नदवी
प्रेम-सन्देश	मियाँ तुफ़ैल मुहम्मद
परलोकवाद और भारतीय धर्म-ग्रन्थ	मौलाना मुहम्मद फ़ारूक़ ख़ाँ
बन्दों के हक़	बिन्तुल-इस्लाम
माँ-बाप के अधिकार	मौलाना सय्यद लुत्फ़ुल्लाह क़ादरी
मरने के बाद क्या होगा?	बिन्तुल-इस्लाम
शान्ति-मार्ग	मौलाना सय्यद अबुल-आला मौदूदी

सम्पूर्ण पुस्तक सूची मुफ़्त मँगाएँ।

